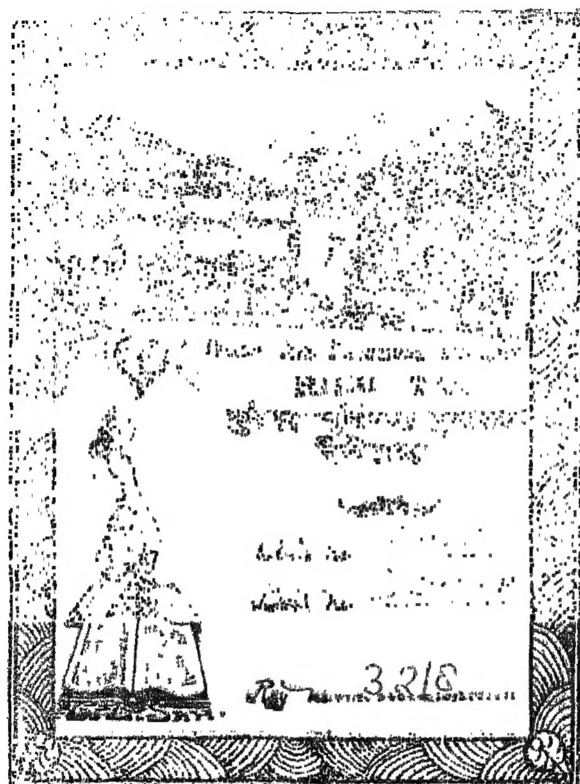


आधुनिक समीक्षा : कुछ समस्याएँ

लेखक
डा० देवराज

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट,
दिल्ली-६.

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट,
दिल्ली-६

मूल्य
चार रुपया आठ आना

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली।

समर्पण

गीता और समाजवाद के मूर्तिमान समन्वय
प्रोफेसर मुकुटबिहारीलाल अध्यक्ष,
राजनीति-विभाग, काशी
विश्वविद्यालय को

निवेदन

प्रस्तुत संग्रह में मेरे पिछले तीन-चार वर्षों के निबन्ध इकट्ठे किये गये हैं। 'साहित्य-चिन्ता' के निबन्धों की भाँति ये निबन्ध भी मुख्यतः सैद्धान्तिक हैं। इनका उद्देश्य साहित्य तथा आलोचना-सम्बन्धी कतिपय प्रचलित मान्यताओं को आंकते हुए अपने मन्तव्यों को प्रतिपादित करना है। साहित्य से सम्बन्धित समस्याएँ अनेक हैं। दुर्भाग्य से इस देश तथा हमारी भाषा में इन विविध समस्याओं के सम्बन्ध में जिम्मेदारी के साथ चिन्तन करने की परम्परा नहीं है। इसका एक प्रमुख कारण आज के युग में राजनीतिक दलबंदियों की प्रधानता है जो साहित्य के क्षेत्र को भी आक्रान्त किये हुये है। किन्तु केवल यही कारण नहीं है। सबसे बड़ा कारण है हमारा जातीय स्वभाव, जिसमें मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति यदि अनुपस्थित नहीं तो बहुत ही शिथिल है। हमारे देश में आपको ऐसे बहुत-से वयोवृद्ध मिलेंगे जो प्राचीन संस्कृति के उत्कट प्रेमी हैं; ऐसे असंख्य नवयुवक भी मिलेंगे जो कार्लमार्क्स अथवा किसी दूसरे बड़े विचारक के कट्टर अनुयायी हैं, किन्तु ऐसे लोग प्रायः नहीं के बराबर मिलेंगे जो यह महसूस करते हों कि एक स्वतन्त्र महादेश के नागरिक होने के नाते हमारा यह कर्तव्य है कि हम विश्व के सांस्कृतिक जीवन में सृजनात्मक सहयोग दें। प्राचीन अथवा नवीन किसी भी सांस्कृतिक परम्परा से प्रेरणा लेना केवल वञ्छनीय ही नहीं है, बल्कि ज़रूरी है; किन्तु इस प्रेरणा लेने का अर्थ अपने सृजनात्मक दायित्व से छुट्टी पा जाना नहीं है। सच पूछिये तो नये-पुराने महत्वपूर्ण विचारकों से उचित प्रेरणा वही ले सकता है जो स्वयं विचार-शील है; यह बात व्यक्तियों तथा जातियों, सब पर लागू होती है। यह देखकर बड़ा कष्ट होता है कि आज हमारे देशवासी इस लायक भी नहीं रह गये हैं कि अपनी समृद्धि सांस्कृतिक धरोहर का उचित मूल्यांकन एवं उपयोग कर सकें, उसमें वृद्धि करने का प्रश्न तो और भी कठिन है। हम योरपीय विचार-राशि का भी समुचित उपयोग करना नहीं जानते। अर्थ-गौरव से युक्त गद्य का जो धरातल हमें 'काव्य-प्रकाश' जैसे अलंकार-ग्रन्थों तथा शंकर, वाचस्पति मिश्र आदि विचारकों की कृतियों में मिलता है, वह आज हिन्दी के कितने लेखकों में मिल सकेगा? और आज के काव्य में कालिदास की वाणी की ऋजु प्रांजलता

भी कहाँ उपलब्ध हो सकेगी ? जान पड़ता है जैसे, एक राष्ट्र की हैसियत से, हम यह स्वप्न तक नहीं देखना चाहते कि हम प्राचीन भारतीय मनीषियों से आगे तथा ऊपर की दिशा में विकास करें। वर्त्तमान युग के यान्त्रिक आविष्कारों की भाँति हम विचार-क्षेत्र में भी या तो योरप पर ही निर्भर रहना चाहते हैं, या फिर प्राचीनों का ढिंढोरा पीटना। हमें इस बात की कोई लज्जा नहीं है कि सांस्कृतिक दृष्टि से, केवल हम योरपीय लोगों के समकक्ष ही नहीं हैं, अपितु अपने पूर्वजों के योग्य उत्तराधिकारी बनने लायक भी नहीं रह गये हैं।

ऐसे देश में यह आश्चर्य की बात नहीं कि स्वतंत्र-चिन्तन का कोई प्रयत्न तीखी तथा गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न न करे। मैंने हिन्दी में अब तक एक भी ऐसा लेख या निबन्ध नहीं देखा जहाँ प्रस्तुत लेखक के किसी मन्तव्य को आँकने का, उसके खण्डन या मण्डन का, वैज्ञानिक प्रयत्न किया गया हो। अवश्य ही श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'अवन्तिका' में 'कल्पना और वास्तविकता' शीर्षक से दो निबन्ध लिखे, पर इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वे प्रेरणा एवं निष्पत्ति दोनों की दृष्टि से व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक थे। किन्तु शास्त्री जी मुख्यतः कवि हैं; मेरी शिकायत हिन्दी के विचारशील आलोचकों से है, विशेषतः उनसे जो साहित्य का दिशा-निर्देश करने का दावा करते हैं। एक बात और है—यह जरूरी नहीं कि अपने से भिन्न मत रखने वालों को अथवा अपने विरोधियों को, मैं ही उत्तर दूँ। विभिन्न व्यस्तताओं के बीच मेरे लिए इतना अवकाश होना दुर्लभ है। मैं इतनी आशा रखता हूँ कि मुझ पर ही नहीं, किसी भी लेखक पर यदि कहीं अन्यायपूर्ण प्रहार हो तो अनेक समर्थ लेखक उसका प्रतिकार करने को तैयार रहें। ज्यादा महत्व की बात यह है कि हिन्दी के लेखकों में साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर स्वस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने का चाव बढ़े।

केवल साहित्य-समीक्षा के ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में, हमारे देश की यही दशा है—अर्थात् सृजनात्मक चिन्तन-शीलता का अभाव। कभी-कभी इस स्थिति से बड़ी निराशा और क्षोभ होता है। क्या सचमुच ही स्पेंगलर जैसे विचारकों का यह कहना ठीक है कि भारतीय संस्कृति सदा के लिए मर चुकी ? क्या अब कभी भविष्य में हम इस लायक नहीं बन सकेंगे कि दूसरे देशों से केवल आदान न करते हुए उन्हें कुछ दे भी सकें ? मैं यह नहीं मानता कि इतिहास की प्रगति किन्हीं अटूट नियमों द्वारा निर्धारित है। मैं विश्वास करता हूँ कि मनुष्य जाति एवं विभिन्न राष्ट्र अपने इतिहास का स्वयं

निर्माण करते और कर सकते है। हम भारतीय भी उचित प्रयत्न द्वारा देश की सोई हुई सृजन-चेतना को जगा सकते हैं। इस विश्वास और संकल्प में सक्रिय सहयोग देने के लिए मै, विशेषतः नई पीढ़ी के युवक-युवतियों का आह्वान करता हूँ।

इस सम्बन्ध में हमें प्राचीनता के उन रूढ़िवादी उपासकों से सावधान रहना होगा जो, कोई उपयोगी नई बात कहने की स्थिति में न होते हुए, प्राचीन की दुहाई मात्र देकर—उसके नाम पर नवीन को कोसकर—अपनी महत्ता का अनुभव करना चाहते हैं। जो व्यक्ति प्राचीन की बहुत ज्यादा दुहाई दे उसके सम्बन्ध में एक स्पष्ट प्रश्न करना चाहिये—क्या इस व्यक्ति ने अब तक स्वयं भी कोइ उपयोगी चिन्तन किया है ? यदि नहीं, तो आप निश्चय जान लें कि वह व्यक्ति प्राचीन मनीषियों की व्याख्या कर सकने लायक प्रतिभा से सम्पन्न नहीं है।

ये निबन्ध स्वतंत्र होते हुए भी एक केन्द्रीय दृष्टि से अनुप्राणित हैं। अवश्य ही इस दृष्टि का साक्षात्कार लेखक को क्रमशः हुआ है। 'साहित्य-चिन्ता' में चिन्तन का प्रधान विषय साहित्य है; प्रस्तुत संग्रह का केन्द्रगत विषय साहित्य-समीक्षा है। मेरी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं का समग्र रूप अन्त के दो निबन्धों— 'आलोचना-सम्बन्धी मेरी मान्यतायें' तथा 'एक भूमिका'—में मिल सकेगा। यों तो संग्रह के सारे निबन्ध लेखक के समीक्षा या मूल्यांकन से सम्बद्ध विचारों के स्पष्टीकरण के लिए ही हैं।

'साहित्य-चिन्ता' के वक्तव्य में मैंने कहा था कि मैं भविष्य में व्यावहारिक समीक्षायें न लिख सकूँगा। केवल अन्तिम निबन्ध ही इसका अपवाद कहा जा सकता है। तुलसी-सम्बन्धी निबन्धों का प्रयोजन सैद्धान्तिक ही है। यूं मैं जानता हूँ कि व्यावहारिक समीक्षा के निबन्ध ही पुस्तक को परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी बनाते हैं। किन्तु इस प्रकार के उपयोगी ग्रन्थों की शायद, हिन्दी में कमी नहीं है।

प्रस्तुत वक्तव्य में मुझे हिन्दी पाठकों को एक दूसरी सूचना देनी है— भविष्य में शायद मैं इस प्रकार के निबन्ध लिखने का अवकाश न पा सकूँ, और इस ढंग का तीसरा संग्रह हिन्दी की भेंट न कर सकूँ। अवश्य ही मेरी यह इच्छा है कि 'साहित्य-सम्बन्धी' अपने मन्तव्यों का एक पूर्ण विवरण आगे कभी प्रकाशित करूँ। लेकिन यह कब सम्भव होगा, कहना कठिन है। विलम्ब से एक लाभ यह भी है कि मेरे साहित्य-सम्बन्धी विचार और अधिक प्रौढ़ रूप ले सकें, तथा एक सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि का अंग बन सकें। अपने साहित्यिक

सिद्धान्तों को ऐसा रूप देने का आंशिक प्रयत्न 'दि फ़िलासफी ऑफ़ कल्चर' नामक पुस्तक की तैयारी के रूप में होता रहा है। लेकिन 'साहित्य' पर वैसी पुस्तक के प्रकाशन से भी इन निबन्धों की उपयोगिता कम नहीं होगी; कारण यह है कि साहित्यिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर जितने विस्तार से इन स्वतंत्र निबन्धों में विचार किया जा सका है, वैसा करने का अवसर फिर नहीं मिल सकेगा।

मैं ऑल-इण्डिया रेडियो, लखनऊ का कृतज्ञ हूँ, जिसने मुझे वहाँ से प्रसारित तीन वार्त्ताओं को संग्रह में समावेशित करने की आज्ञा प्रदान की। 'एक भूमिका' के लिए वैसी ही अनुमति प्रदान करने के लिए मैं 'राजकमल प्रकाशन' के प्रति भी आभारी हूँ।

लखनऊ
३० जून, १९५४

देवराज

विषय-सूची

: १ :

हिन्दी-समीक्षा : एक दृष्टि

खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य की भाँति हिन्दी आलोचना का इतिहास भी बहुत छोटा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल सहज ही इस इतिहास के प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। आधुनिक हिन्दी आलोचना की प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ शुक्ल जी की रचनाओं में विद्यमान हैं। शुक्ल जी की समीक्षाओं के तीन मुख्य पहलू हैं: ऐतिहासिक एवं समाज-शास्त्रीय, विश्लेषणात्मक और आदर्शवादी। उन्होंने जायसी, सूर, तुलसी आदि के काव्य का उनके युगों से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है तथा उसे लोक-मंगल की कसौटी पर कसा है; साथ ही उनकी कृतियों का विशुद्ध कलात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। इन दृष्टियों से हम शुक्ल जी को एक महान् क्लासिकल समीक्षक कह सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शुक्ल जी साहित्य के मूल्यांकन में मुख्यतः प्राचीन शास्त्रीय मानों का प्रयोग करते हैं, ऐसा तो उनके पूर्व और बाद में भी वर्जनों क्षुद्र आलोचकों ने किया है। मतलब यह है कि शुक्ल जी में क्लासिकल साहित्य की विकसित रस-संवेदना है, और इस संवेदना को वे उपयुक्त गरिमा और गम्भीरता के साथ व्यक्त कर सकते हैं।

शुक्ल जी एक परम्परावादी समीक्षक जान पड़ते हैं। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—एक यह कि उन्होंने भरसक पुराने अलंकार-शास्त्रों की पदावली का प्रयोग किया, नये व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना नहीं की। जहाँ वे मौलिक थे वहाँ भी उन्होंने यही आभास दिया कि वे प्राचीन सिद्धान्तों के व्याख्याता-मात्र हैं। वस्तुतः वे इसी में देश का गौरव समझते थे कि प्राचीन साहित्यशास्त्र को पूर्ण प्रमाणित किया जा सके। दूसरे, मर्यादावाद का अर्थ वे प्राचीन वर्ण-व्यवस्था, भक्तिवाद आदि का परिपालन या अभ्यास मानते थे। इस सम्बन्ध में कबीर आदि संतों की उच्छृङ्खल या स्वतंत्र मनोवृत्ति उन्हें पसन्द न थी।

शुक्ल जी ने साहित्य की सामाजिक सार्थकता पर गौरव दिया।

गीत-काव्य की अपेक्षा वे उस काव्य को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे जिसमें सम्पूर्ण जीवन का चित्र हो। उनकी दृष्टि में तुलसी सूर से बड़े हैं, क्योंकि सूर केवल सौंदर्य के अनुरागी हैं जब कि तुलसी के राम शक्ति, सौंदर्य और शील के परिपूर्ण आदर्श हैं।

यह विचित्र बात है कि शुक्ल जी का आदर करते हुए भी समकालीन लेखकों ने उनके आदर्शों को स्वीकार नहीं किया। बात यह है कि युग का वातावरण शुक्ल जी के सांस्कृतिक विचारों का विरोधी था। गांधी जी के देश में उस समय शक्ति का महत्व-ख्यापन समीचीन नहीं लग सकता था; और आर्य समाज के आन्दोलन ने विचारशीलों के मन पर अवतारवाद और सगुणोपासना की स्थूलता अंकित कर दी थी। उधर हिन्दी कवियों पर रवीन्द्र एवं रोमांटिक गायकों का प्रभाव पड़ा। उदार सन्तकवियों के प्रति भी, जिनकी वाणी जनतन्त्र के अनुकूल थी, शिक्षितों का मनोभाव बदला।

किन्तु हमें आलोचना की बात करनी है। छायावादी युग में समाज-शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रायः लुप्त दीख पड़ता है। छायावाद के प्रशंसकों ने शक्लजी के विरुद्ध, गीत-काव्य को महत्व दिया। श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी, और बाद में डा नगेन्द्र जैसे समीक्षकों ने, छायावादी काव्य की विश्लेषणात्मक आलोचना प्रस्तुत की, अर्थात् वह आलोचना, जो मुख्यतः कलात्मक सौष्ठव और शक्ति को आँकती है। किन्तु छायावाद की प्रशंसा का एक दूसरा पहलू भी था, यह कि वह काव्य आध्यात्मिक और रहस्यवादी है। इस दूसरी दृष्टि ने छायावाद के कलात्मक विश्लेषण में बाधा भी पहुँचाई। छायावाद की अभिव्यक्तिगत अशक्तियों की, उसके धुन्ध और कुहासे की, उसकी दुरूह कल्पनाओं तथा हल्केपन की रहस्यवाद के नाम पर प्रशस्ति और दार्शनिक व्याख्याएँ की गईं। इस धाँधलेबाज़ी से क्षुब्ध होकर ही आचार्य शुक्ल को 'काव्य में रहस्यवाद' की रचना करनी पड़ी। आध्यात्मिकता के दावे और उसके बल पर प्रशस्ति की कामना का अच्छा निदर्शन महादेवी जी के निबन्धों में मिलता है। छायावाद के सम्बन्ध में महादेवी जी का मुख्य दावा यही है कि वह सांस्कृतिक दृष्टि से रीति-कालीन काव्य से उच्चतर है।

आस्तिक शुक्ल जी रहस्यवादिता के दावे को सीधे अस्वीकार नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने भक्तकवियों का सहारा लेते हुए एक निराला मन्तव्य सामने रखा—कि काव्य व्यक्त के संचरण का क्षेत्र है, अव्यक्त के नहीं। अल्प-विकसित हिन्दी-आलोचना के इतिहास में यह दूसरी धाँधलेबाज़ी

थी, यद्यपि शुक्ल जी का मन्तव्य सर्वथा निराधार नहीं था। ब्रह्म भले ही अव्यक्त और अमूर्त हो, पर ब्रह्म-विषयक भावनाएँ स्पष्ट ही मूर्त और व्यक्त जीवन-स्पन्दन का भाग हो सकती हैं।

बात यह थी कि छायावादियों के पास कोई स्पष्ट सामाजिक दर्शन, सामाजिक आदर्श या सन्देश न था; फलतः वे रहस्यवाद के नाम पर शिक्षित समाज को और स्वयं अपने को भुलावा देने लगे। रावीन्द्रिक तथा जन-तांत्रिक मानववाद का आदर्श उनके उपचेतन में सजग था, पर शायद आस्तिक भारतीय जनता के लिए उस समय वह पर्याप्त नहीं समझा गया।

वस्तुतः छायावादी काव्य, नैतिक धरातल पर, जनतांत्रिक समत्वभावना और व्यक्ति की महत्त्व-घोषणा का काव्य है। सामन्ती राजा-रानियों के चरित्र के स्थान पर वह साधारण मनुष्य के साधारण मनोभावों और आकांक्षाओं को प्रतिष्ठित करता है। महादेवी जी कहीं कह गई हैं कि आज का साहित्यकार अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख लेना चाहता है। यह वक्तव्य छायावाद की व्यक्तिवादी 'स्पिरिट' को प्रकट करता है; उसमें ब्रह्म और रहस्यवाद के महत्त्व का कोई संकेत नहीं है। निःसंदेह छायावाद इहलौकिक प्रेम और सौंदर्य-भावना का काव्य है। प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोप, और प्रेम-निवेदन को ब्रह्म-विषयक घोषित करना, यह कहने का एक ढंग-मात्र है कि छायावादी कवि का इन चीजों में अनुराग है। अन्ततः काव्य-साहित्य का विषय मनुष्य का जीवन और स्वयं मानवी भावनाएँ ही हैं; और काव्य का उच्चतम धरातल होता है, दैवी या पारलौकिक नहीं।

आश्चर्य की बात है कि छायावाद के प्रगतिवादी समीक्षक भी उसका उचित समाज-शास्त्रीय विश्लेषण नहीं कर सके। छायावाद के विरोध की झोंक में उन्होंने कहा कि वह काव्य पलायनवादी है। छायावादी काव्य की विषय-वस्तु वैयक्तिक है, सामाजिक नहीं; पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह पलायनवादी है। सच यह है कि जीवन से पलायन करके कोई काव्य क्षण भर भी टिका नहीं रह सकता। कविता के संकट के इस युग में छायावादी काव्य का महत्त्व और भी स्पष्ट दीख पड़ता है। पलायनवादी काव्य हरगिज़ भी ऐतिहासिक महत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। अन्ततः जीवन के किसी अंग का घना परि-चय और उसके महत्त्व का विश्वास ही साहित्य-सृष्टि की प्रेरणा दे सकते हैं। आधुनिक कवियों में 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' के गायक बच्चन का दृष्टिकोण सबसे अधिक निषेधात्मक और निराशावादी रहा है, पर बच्चन के काव्य में भी जीवन के उन मूल्यों की स्वीकृति प्रतिफलित है जिनके अभाव

ने कवि को गीत-सृष्टि की प्रेरणा दी है। अवश्य ही छायावाद में जीवन के कुछ पक्षों से कतराने की प्रवृत्ति है, अर्थात् उसके संघर्ष-मूलक और मांसल पक्षों से, इसीलिए वह एकांगी है; किन्तु उसका महत्त्व प्रेम और सौन्दर्य की उन भावनाओं के कारण है जिन्हें उसने अभिव्यक्ति दी है। निश्चय ही छायावाद ने हिन्दी-साहित्य की जीवन-चेतना को कुछ दिशाओं में समृद्ध किया है।

अब हम प्रगतिवादी समीक्षा को लें। अपने एक निबन्ध (साहित्य की परख) में श्री शिवदान सिंह चौहान ने शुक्ल जी की कड़ी आलोचना की है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि काव्य-साहित्य के प्रगतिवादी दृष्टिकोण और शुक्ल जी के दृष्टिकोण में गहरी समानताएं हैं। दोनों इस बात पर जोर देते हैं कि साहित्य की विषय-वस्तु सामाजिक होनी चाहिए, उसका कर्म-जगत् से सम्बन्ध होना चाहिए, और यह कि साहित्यकार को लोक-मंगल की साधना करनी चाहिए। अवश्य ही लोक-मंगल के स्वरूप और साधनों के सम्बन्ध में उक्त दृष्टियों में आकाश-पाताल का अन्तर है: शुक्ल जी प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के कायल हैं; प्रगतिवादी मार्क्सीय साम्यवाद के। किन्तु आलोचना की दृष्टि से यह अन्तर बाहरी ही कहा जा सकता है। अपनी 'प्रगति और परम्परा' पुस्तक में कुछ प्रश्नों का उत्तर देते हुए, डॉ० रामविलास शर्मा ने प्रगतिवाद की मान्यताओं का बड़ा स्पष्ट विवेचन किया है। वह कहते हैं:

(१) "साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है।" (पृष्ठ ४६) "प्रगतिशील साहित्य वह है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।" (वही)

(२) "प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है।" (पृष्ठ ५०) "यदि वह (साहित्य) मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य तो क्या साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।" (वही)। डॉ० शर्मा ने स्वीकार किया है कि बंगाल के अकाल से सम्बद्ध अधिकांश रचनाएँ मार्मिक नहीं हो सकी हैं।

(३) यह कहना गलत है कि 'श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है।' अर्थात् साहित्य में प्रगतिशीलता और श्रेष्ठता समानार्थक नहीं हैं।

सारांश यह कि प्रगतिवादी उस अच्छे साहित्य को पसन्द करता है जो जनहित का साधक हो। इस मन्तव्य में कोई ऐसी बात नहीं जो किसी निष्पक्ष

और समझदार व्यक्ति को अग्राह्य हो। फिर क्यों कुछ ईमानदार और अच्छे साहित्यिक प्रगतिवाद से घबराते और उसे आशंका और सन्देह की दृष्टि से देखते नजर आते हैं ? और क्यों ऐसा लगता है कि आज हमारी आलोचना और साहित्य में उलझन और अराजकता-सी फैली हुई है ?

उत्तर में मेरा निवेदन है कि दो कारणों से। एक कारण प्रगतिवादी साहित्य-दृष्टि की कुछ कमियां है, और दूसरा प्रगतिवादी आलोचकों का तर्ज-अमल। इन दोनों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

पहले हम प्रगतिवाद की मान्यताएँ लें। प्रगतिवाद का अनुरोध है कि साहित्य की विषय-सामग्री सामाजिक जीवन होना चाहिए, वैयक्तिक नहीं ; सामाजिक जीवन का चित्र होना चाहिए, अर्थात् व्यक्ति के सुख-दुःख एवं उन भावनाओं का जिनका मूल सामाजिक व्यवस्था में है। शुक्लजी ने भी कुछ ऐसा ही कहा था। किंतु शुक्लजी ने वैयक्तिक प्रगीत-काव्य का बहिष्कार नहीं किया, सिर्फ़ यह कहा कि ऐसे काव्य से प्रबन्ध-काव्य श्रेष्ठ होता है। इस दृष्टि से प्रगतिवादी सिद्धान्त अधिक अतिरंजित है। किन्तु क्या प्रबन्ध-काव्य आवश्यक रूप में गीत-काव्य से श्रेष्ठतर होता है ? क्या कालिदास का 'मेघदूत' श्रेष्ठ-काव्य नहीं है ? और क्या रवीन्द्र को 'मेघनाद वध' अथवा 'साकेत' के रचयिता से आवश्यक रूप में छोटा कहना पड़ेगा ? इसके उत्तर में प्रगतिवादी कहेगा—प्रगीत-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य लोकहित का अधिक सम्पादन कर सकता है और इसलिए अधिक ग्राह्य है। किन्तु क्या काव्य अपनी आनन्द देने की, अस्तित्व प्रसार करने की, जीवन-यात्रा को सरस-संस्कृत बनाने की शक्ति द्वारा भी जन-हित का साधन नहीं करता ? वस्तुस्थिति यह है कि प्रगतिवादी जनहित और सामाजिकता के बारे में कुछ कट्टर मान्यताएँ रखता है और उनके सम्बन्ध में दूसरों के विचारों एवं चिन्तन-प्रयत्नों को घोर सन्देह की दृष्टि से देखता है। उसके अनुसार सामाजिक जीवन का मूल रूप है आर्थिक व्यवस्था, और शोषक-शोषितों का सम्बन्ध। साहित्य में प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष आदि का चित्रण हो यह बुरी बात नहीं, बल्कि अनिवार्य है; पर इस चित्रण को यह प्रतिफलित करना चाहिए कि इन सब विकारों के मूल में आर्थिक व्यवस्था और वर्गों का सम्बन्ध है। साहित्य ही नहीं, विभिन्न शास्त्रों या विज्ञानों द्वारा भी प्रगतिवाद उक्त मार्क्सवादी सिद्धान्तों का समर्थन चाहता है। फ्रायड के सिद्धान्तों को लक्ष्य करके डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं—"जो मनोविज्ञान समाज को छोड़कर व्यक्ति के अन्तर्मन का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है, वह अपने विज्ञान को पहले से ही अवैज्ञानिक करार देता है।" (वही, पृष्ठ ६२)

प्रसिद्ध यूरोपीय समीक्षक ल्यूकैक्स ने अपनी पुस्तक Studies in European Realism में बाल्जाक, स्टेण्ढल और टॉल्स्टॉय को जोला से श्रेष्ठतर बताते हुए कहा है कि पूर्व तीनों लेखक अपने पात्रों को सामाजिक पृष्ठभूमि में चित्रित करते हैं जब कि जोला मुख्यतः उनके प्राइवेट, व्यक्तिगत जीवन पर दृष्टि रखता है। इसलिए ल्यूकैक्स बाल्जाक आदि को यथार्थवादी और जोला को प्रकृतिवादी (Naturalistic) लेखक घोषित करता है। इस लेखक ने 'समाज पर शुभ या अशुभ प्रभाव' की कसौटी का स्थूल रूप में प्रयोग नहीं किया है।

संक्षेप में, मार्क्सवाद या प्रगतिवाद अरस्तू के इस मन्तव्य को कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, शत-प्रतिशत रूप में स्वीकार करता है। साथ ही वह यह भी कहता है कि मनुष्य की सम्पूर्ण नैतिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक हलचल के, विशेषतः महत्त्वपूर्ण हलचल के मूल में आर्थिक व्यवस्था या सम्बन्ध रहते हैं।

उक्त मन्तव्य में सचाई का काफ़ी अंश है, इसीलिए उसकी अव्याप्ति या एकांगिता का निर्देश करना सरल नहीं है। फिर भी हम अपनी शंकाओं को निरूपित करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रगतिवादी आलोचक साहित्य की समाज-शास्त्रीय समीक्षा और परीक्षा के हामी हैं। प्रश्न यह है—क्या मन की प्रत्येक अवस्था और साहित्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति का सामाजिक हेतु अथवा समकालीन समाज व्यवस्था से सम्बन्ध होता है? यदि हाँ, तो फिर किसी साहित्य की यह शिकायत करना कि वह सामाजिक नहीं है, ग़लत है; यह स्वयं अपने सिद्धान्त का खण्डन करने के समान है। और यदि कोई साहित्य ऐसा हो सकता है जिसका समाज-व्यवस्था अथवा सामाजिक परिस्थितियों से आवश्यक लगाव नहीं है, तो यह अनुगत होता है कि सब प्रकार के साहित्य की समाज-शास्त्रीय छानबीन सम्भव नहीं है।

एक दूसरा प्रश्न यह है कि एक समाज-व्यवस्था में लिखे हुए अच्छे साहित्य का—जैसे कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों का—दूसरी समाज-व्यवस्था में साधारणीकरण कैसे सम्भव हो जाता है? इसी प्रकार यह कैसे सम्भव होता है कि एक वर्ग के साहित्य में दूसरा वर्ग रस ले सके? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि साहित्य जिस समाज अथवा प्रकृति पर आधारित है उसकी जड़ें आर्थिक सम्बन्धों से ज्यादा गहरी हैं?

और इसका क्या कारण है कि तथाकथित असामाजिक काव्य-साहित्य का भी, जैसे कालिदास के 'मेघदूत' का, गहरे अर्थ में साधारणीकरण हो जाता है?

यह नोट करने की बात है कि ल्यूकैक्स ने डास्ताएव्स्की जैसे लेखकों के, जिनके पात्रों का सुख-दुःख आर्थिक से अधिक मनोवैज्ञानिक कारणों पर निर्भर रहता है, विश्लेषण का, अर्थात् उनके महत्त्व की व्याख्या का, कोई प्रयत्न नहीं किया है। और उक्त समीक्षक का पैमाना टॉल्स्टॉय की कृतियों के उन अंशों के महत्त्व की बिलकुल ही व्याख्या नहीं कर सकता जो किसी भी तरह किसी समाज-व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं किये जा सकते—जैसे युद्ध-क्षेत्र में घायल पड़े हुए एण्ड्रयू का सुनील आकाश की अनन्तता का भावन करना और यह अनुभव करना कि नेपोलियन नाम का प्राणी, और समस्त युद्धाडम्बर, नितान्त क्षुद्र वास्तविकताएँ हैं। कबीर के निम्न दोहों में भी कुछ ऐसी ही अनिर्वचनीय गरिमा है :

> कबिरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस।
> ना जाने कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस॥
> पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
> देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभात॥

कुछ ऐसे ही 'मूड' में, शायद हाली ने कहा है :

> ज़ीस्त का एतबार क्या हाली
> आदमी बुलबुला है पानी का !

आज की दुनिया में यह प्रचलित सिद्धान्त है कि साहित्य ही नहीं मनुष्य का सारा ज्ञान-विज्ञान तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। मार्क्सवाद के अनुसार हमारे सारे सांस्कृतिक प्रयत्न शासक-वर्ग के स्वार्थों के पोषक और उनके दृष्टिकोण को प्रतिफलित करने वाले होते हैं। अवश्य ही इस मन्तव्य में सत्य का अंश है। साथ ही यह भी एकदम असंगत नहीं कि कल्पनाशील मनुष्य, जो इतिहास की अनेक परम्पराओं की अवगति प्राप्त कर लेता है, अपने को विशिष्ट वातावरण की सीमाओं के ऊपर उठा सकता है, और उस समय वह इस या उस समाज या वर्ग के सदस्य के रूप में नहीं, अपितु विशुद्ध इतिहासातीत या इतिहास-द्रष्टा पुरुष के रूप में, मानव-सम्बन्धी स्थायी सत्यों का साक्षात्कार करता है। यदि ऐसा नहीं है तो क्यों आज भी हम प्राचीन महाकवियों और नीति-चिन्तकों की अन्तर्दृष्टि से चकित और प्रभावित होते हैं ? क्यों आज भी होमर और महाभारत, अरस्तू और चाणक्य अपनी मार्मिक उक्तियों से हमें विस्मयान्वित और अभिभूत कर देते हैं। आदिपर्व में धृतराष्ट्र को आश्वासन देते हुए मन्त्री कणिक ने जीवन में तथाकथित सफलता प्राप्त

करने वाले चतुर पुरुष-पुङ्गवों का जो चित्र खींचा है वह आज भी उतना ही सत्य है :

नित्यमुद्यतदंडः स्यान्नित्यं निवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात्परेषां विवरानुगः ॥
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।
ततः प्रत्यागते काले भिंद्याद् घटमिवाश्मनि ॥
प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत ।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदंत च च ॥
वाचा भृशं विनीतः स्याद् हृदयेन तथा क्षुरः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात्सृष्टो रौद्रेण कर्मणा ॥
नाछित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
ना हत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥

अर्थात् 'हमेशा डण्डा तैयार रखे, और पौरुष प्रकट करता रहे। दूसरों की कमजोरियाँ देखे, और उन से फ़ायदा उठाये; स्वयं छिद्रमुक्त हो। समय पड़ने पर शत्रु को कन्धे पर बिठा कर ले जाय; मौका आने पर उसे वैसे ही तोड़ दे जैसे पत्थर पर घड़ा। प्रहार करना हो तो मीठा बोले; प्रहार करते हुये ज्यादा मीठा; प्रहार करके करुणा प्रकट करे और रोये। वाणी से नम्र हो, हृदय से छुरे-जैसा; भयंकर कर्म करना हो तो मुस्करा कर बात करे। दूसरों का मर्म-छेदन किये बिना, भ कर कर्म किये बिना, मछुए की भांति हत्या किये बिना—कोई धनी नहीं बनता।'

इन पद्यों का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि महाभारतकार हमें दम्भी और क्रूर बनने की प्रेरणा दे रहे हैं। जिस महाभारत में ऐसे श्लोक हैं उसी में भगवद्गीता-जैसी चीजें भी हैं। अत्यन्त ऊँची और नितान्त निकृष्ट, दोनों मनोवृत्तियों के पूर्ण चित्र महाभारत में पाये जाते हैं। महाभारतकार किसी हल्के अर्थ में आदर्शवादी नहीं है।

ल्यूकैक्स ने अपनी पुस्तक में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं उठाया है—क्यों टॉल्स्टॉय, जिनके कुछ विचार (उक्त लेखक के अनुसार) उतने सही नहीं हैं, गोर्की (और बाल्ज़क) की अपेक्षा एक महत्तर कलाकार हैं? ल्यूकैक्स ने इस तुलनात्मक सत्य को महसूस किया है, यद्यपि स्पष्ट शब्दों में कहा नहीं है। यदि वह इस स्थिति पर विचार करता तो सम्भवतः साहित्य के बारे में कुछ और महत्त्वपूर्ण तथ्य देख पाता। तब शायद वह देखता कि टॉल्स्टॉय के पात्र सामाजिक होते हुए भी, सामाजिक संघर्षों में पड़ते हुए भी, गोर्की

(तथा बाल्ज़ाक) के पात्रों से अधिक व्यापक मनुष्यत्व की भूमि पर चित्रित हुए हैं। टॉलस्टॉय में अपने समाज को सम्पूर्णता में देखने और चित्रित करने की क्षमता तो गोर्की के समान है ही, साथ ही वह मनुष्य के उस रूप को भी देख सकते हैं जो सामाजिक क्रियाओं में निःशेष नहीं होता—वर्गों और व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उसका विराट् द्रष्टा और महामानव का रूप, वह रूप जिसमें उसकी चेतना और अभिरुचि का केन्द्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अथवा मानव जगत् की असीमता होती है, और जिस रूप में वह वैयक्तिक एवं वर्गगत स्वार्थों तथा प्रश्नों से कहीं ऊपर उठकर स्वयं मानव-जीवन का अर्थ और लक्ष्य स्थिर करना चाहता है। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार की निर्व्यक्तिक (या निर्वैयक्तिक) महत्ता स्वयं मानव-प्रकृति का अंग है—वह छोटे-से-छोटे मनुष्य में मौजूद है—तभी तो उसे अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य का साधारणीकरण सम्भव होता है। कलाकार की अनुभूति की इस विशेषता को मैं 'रिलीजिओ-फिलॉसफिक' (धार्मिक-दार्शनिक) वृत्ति कहूँगा। टॉलस्टॉय गोर्की और बाल्ज़ाक से बृहत्तर और महत्तर कलाकार हैं क्योंकि वे सामाजिक-नैतिक धरातल के कलाकार होने के साथ-साथ दार्शनिक-धार्मिक कलाकार भी हैं। कहना न होगा कि इन दोनों महत्त्वपूर्ण वृत्तियों का आस्तिकता अथवा नास्तिकता से कोई आवश्यक लगाव नहीं है।

प्रगतिवादी (तथा अन्य आदर्शवादी आलोचक) कभी-कभी यह संकेत देते पाए जाते हैं कि साहित्यकार जीवन की कुछ छवियों का चित्र खींचे, कुछ का नहीं। इसके विपरीत हमारा विचार है कि मानव-प्रकृति का कोई भी सत्य एकान्त हेय नहीं है। आधुनिक यूरोप के लेखक प्रायः गर्भिणी स्त्री का वर्णन नहीं करते, किन्तु कालिदास तथा अन्य भारतीय कवियों ने किया है। जिस प्रकार श्रेष्ठ दार्शनिक विश्व की समग्रता का अनुचिन्तन करता है, वैसे ही श्रेष्ठ कलाकार समग्र जीवन का। और इस व्यापक अनुचिन्तन के धरातल पर ही वह आदर्श जीवन के व्यापक-विपुल रूप का संकेत करता है। एकपक्षी कलाकार कभी जीवन की सम्पूर्णता का नियामक नहीं बन सकता। वह पाठक का पूर्ण विश्वास और आत्मीयता भी नहीं प्राप्त कर सकता, जो उसके वास्तविक हृदय-परिवर्तन के लिए ज़रूरी है। पाठक से यथार्थ को छिपाकर उपदेश देने की प्रवृत्ति को मैं हल्का आदर्शवाद कहता हूँ। यह आदर्शवाद वस्तुतः सफल नहीं होता। महान् आदर्शवादी गांधी जी के अनुयायियों का, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद का नाटकीय कायापलट इसका प्रमाण है।

मैं एक क्षेत्र का उदाहरण दूँ। साहित्यकार को कहाँ तक नर-नारी के शारी-

रिक आकर्षण और सम्बन्ध की बात करनी चाहिए ? कालिदास, भारवि और माघ के काव्यों में सैकड़ों शृंगार-चित्र हैं, जिनमें कुछ अश्लील भी कहे जा सकते हैं; क्या इन कवियों ने ऐसा काव्य लिखकर अनुचित काम किया है ? मैं एक दूसरा प्रश्न पूछूँ—क्या हमारे युवक-युवतियों को वात्स्यायन के काम-सूत्र जैसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ ? और क्या एक सभ्य देश में ऐसी पुस्तकें लिखी जानी चाहिएँ ? क्या प्राचीन भारत, जिसमें भारवि, वात्स्यायन आदि हुए थे, एक सभ्य देश था ? आप में से कुछ लोग इन प्रश्नों का 'हाँ' में उत्तर देते हुए भी कहना चाहेंगे—लेकिन आज की परिस्थिति में हम ऐसे काव्य को प्रोत्साहन नहीं देना चाहते । विद्यापति और सूर का समय और था, अब जमाना दूसरा है ।

मेरा उत्तर है, जमाना दूसरा हो, पर मानव-प्रकृति प्रायः वही है । और क्या सचमुच जमाना दूसरा है ? क्या आप नहीं जानते कि युग में आज के सिनेमा-घरों तथा बम्बई, दिल्ली, लखनऊ आदि के नागरिक जीवन में कैसा वातावरण है ? यह वातावरण विशेष मनोवृत्तियाँ जगाता है । प्रश्न यह है—क्या आप इन मनोवृत्तियों के बनने-बिगड़ने की समस्या वातावरण पर ही छोड़ देंगे, या उसमें साहित्यकार का सहयोग भी लेंगे ? और यह सहयोग आप जिम्मेदार साहित्यकारों से लेंगे—उनसे जो वर्तमान और भविष्य के आलोचकों की परवाह करते हैं, या उनसे जो उत्तेजक साहित्य बेचकर सिर्फ पैसा कमाना चाहते हैं ? और मैं बतलाऊँ—जिम्मेदार साहित्यकार वातावरण की सचाई को कुछ हद तक प्रत्यक्ष करके ही अपना काम कर सकता है । सेक्स और अर्थसंचय के क्षेत्र में कुछ मनोवृत्तियाँ आज के वातावरण में बन रही हैं; उन मनोवृत्तियों को नैतिक परिधि में लाने के लिए यह जरूरी है कि साहित्यकार नये मनुष्य की नई दुर्बलताओं और विवशताओं को समझने का प्रयत्न करे । ऐसा कर के ही वह अपेक्षित नई नैतिक मनोवृत्ति उत्पन्न कर सकता है । यदि ऐसा न हो सका, तो एक भयंकर नैतिक शून्यता हमारे समाज को ध्वस्त कर देगी, क्योंकि नये वातावरण में पुरानी नैतिक मान्यताओं को जीवित रख सकना स्वयं विधाता के लिए भी सम्भव नहीं है ।

जिसे जीवन-विवेक कहते हैं वह किसी व्यक्ति या जाति को लम्बी एवं अनवरत साधना से मिलता है । असली विवेक जीवन के तथ्यों की विस्तृत चेतना पर आधारित होता है, तथ्यों की अनदेखी पर नहीं । वाल्मीकि के राम ने सीता-हरण के बाद दो स्थलों में कहा है—"मुझे चिन्ता इस बात की है कि सीता का यौवन ढल जायगा ।" हम में से कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि तुलसी

के राम कभी ऐसा सोच भी सकते हैं। किन्तु क्या सचमुच यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में वाल्मीकि की अपेक्षा तुलसी ने अधिक जीवन-विवेक का परिचय दिया है ? तुलसीदास कालिदास से अधिक ज्ञानी हो सकते हैं, पर क्या सचमुच कालिदास में उन से अधिक कलात्मक विवेक नहीं है—वह विवेक, जिसके द्वारा एक जाति समृद्ध, रसपूर्ण जीवन-व्यतीत कर सकती है ? मैं हिन्दी लेखकों से कहना चाहता हूँ कि वे अपने देश की प्राचीन 'क्लासिक्स' की उपेक्षा न करें, और ह्रासकालीन हिन्दी-साहित्य की अपेक्षा उस संस्कृत-साहित्य से अधिक प्रेरणा लेने का प्रयत्न करें जो समुन्नत भारत में लिखा गया था। संसार के बिरले ही देशों को ऐसी समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर प्राप्त है।

अब हम प्रगतिवादी समीक्षा के व्यावहारिक रूप को देखें। डॉ० रामविलास के उद्धरणों में कहा गया है कि प्रगतिशील साहित्य को श्रेष्ठ साहित्य होना चाहिये और यह कि सब श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिशील नहीं होता। हम कहेंगे कि श्रेष्ठ साहित्य इस अर्थ में उपयोगी एवं मानव-विकास को आगे ले जाने वाला होता है कि वह जीवन के सार्थक तथ्यों की चेतना जगाता है। वस्तुतः प्रत्येक सांस्कृतिक प्रयत्न चेतना-विकासी होता है, और चेतना का विकास सांस्कृतिक प्रगति का आवश्यक तत्त्व है। लेकिन इस प्रसंग को हम इस समय यहीं छोड़ें। प्रगतिवादियों की व्यावहारिक आलोचना से अक्सर लोगों को यह शिकायत हो जाती है कि वे आलोच्य कृति में श्रेष्ठता के एक ही उपादान की विशेष खोज करते हैं, अर्थात् एक विशिष्ट ढंग की प्रगतिशीलता की। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी आलोचना साम्प्रदायिक रूप धारण करने लगती है। वे तथा-कथित प्रगतिशील कृतियों की कलात्मक आसक्ति की उपेक्षा और दूसरी श्रेष्ठ कृतियों की श्रेष्ठता से इन्कार करने लगते हैं। इससे यह जान पड़ने लगता है कि प्रगतिशील समीक्षक समीक्षक नहीं प्रचारक हैं—वे पहले एक सम्प्रदाय के सदस्य हैं, बाद में साहित्य-समीक्षक।

मैं प्रगतिवादी समीक्षा को आदर्शवादी समीक्षा कहूँगा। ऐसी समीक्षा के साथ हमेशा यह खतरा रहता है कि वह साहित्यिक श्रेष्ठता की माँग के स्थान में अपने आदर्शों की माँग रख दे। हमारी समीक्षा में यह माँग शुक्ल जी के समय से ही चली आ रही है। छायावादियों की विश्लेषणात्मक आलोचना इस माँग या भावना से संपृक्त है। इसका एक कुपरिणाम यह है कि हमारी विश्लेषणात्मक आलोचना परिपक्व नहीं हो पा रही है। मैं और कहूँ—कोई जाति या साहित्य लम्बी साधना द्वारा ही विश्लेषणात्मक, चेतना-विकासी

समीक्षा को विकसित करता है। अंग्रेजी साहित्य में कई शताब्दियों से ऐसी आलोचना होती आई है; आज भी वहाँ अनेक प्रौढ़ समीक्षक मौजूद हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-समीक्षा बेहद पिछड़ी हुई है। और इस दृष्टि से प्राचीन भारत के अलंकारशास्त्री बहुत आगे बढ़े हुए थे।

इस प्रकार की सफल समीक्षा के लिए विश्व-साहित्य की 'क्लासिक्स' का निकट और ईमानदार परिचय अपेक्षित है। ईमानदार परिचय से हमारा मतलब है, पूर्वाग्रह से शून्य परिचय। हम 'क्लासिक' साहित्यकारों के निकट मुख्यतः श्रेष्ठ साहित्य की संवेदना प्राप्त करने जायँ, अपने प्रिय मानों के निदर्शन खोजने नहीं। सच यह है कि साहित्यिक मानों की चेतना-प्राप्ति एक ऐसा व्यापार है जो महनीय कृतियों के अध्ययन के साथ लगातार अनुष्ठित होता रहना चाहिए। पूर्वाग्रही आलोचक 'क्लासिक्स' में प्रायः वही और उतना ही देख पायगा जितना और जो उसने देखने का संकल्प किया है। इसका फल यह होगा कि क्लासिक्स का अध्ययन उसको रस-चेतना को विशेष समृद्ध और उर्वर नहीं बना पायगा। मुझे भय है कि अधिकांश प्रगतिवादी आलोचक या तो क्लासिक्स को पढ़ते नहीं या उन्हें ईमानदारी से नहीं पढ़ते। फलतः प्रतिभाशाली प्रगतिवादियों की वाणी में भी वह गहराई और मौलिकता प्रायः नहीं आ पाती जैसी शुक्ल जी में पाई जाती है। वे प्रायः यन्त्रवत् कुछ मतवादी सूत्रों या नारों का उपयोग करते पाए जाते हैं। इस वातावरण में दूसरे समीक्षक भी गहरी रस-दृष्टि के स्थान में आकर्षक सूत्र बोलने का प्रयत्न करते हैं। फल यह होता है कि आज के अधिकांश आलोचक सस्ती नारेबाजी और निन्दा-स्तुति के अतिरिक्त कुछ और कम कर पाते हैं। वे प्रायः श्रेष्ठ साहित्य के विधायक विविध उपादानों की जीवन्त चेतना से वंचित रहते हैं, और इसीलिए सन्तुलित आलोचना नहीं कर पाते।

किन्तु शायद प्रगतिवादी की एकांगिता और कट्टरता उसके विशिष्ट मानदण्ड और जीवन-दर्शन की स्वीकृति के लिए आवश्यक है। मीर ने अपने काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है :

किसने सुन शेरे मीर यह न कहा,
कहियो फिर हाय क्या कहा साहब !

मीर के इस शेर को सुनकर बेसाख्ता मुँह से शेर के उत्तरार्द्ध का उद्गार निकल पड़ता है। लेकिन मेरा अनुमान है कि प्रगतिवादी के मुख से ऐसा उद्गार नहीं निकलेगा। निर्विकार, इन्द्रियजयी तपस्वी की भाँति वह पूछेगा, आखिर इस शेर की सामाजिक उपयोगिता क्या है ? और उसका अपने समय की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में सम्बन्ध भी क्या है ? इसी प्रकार बिहारी के उस प्रसिद्ध

दोहे 'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय', को सुनकर वह तार्किक प्रशंसा के भाव से विभोर नहीं हो सकेगा, क्योंकि उक्त पद्य की मानव-विकास के लिए कोई बुद्धिगम्य उपयोगिता नहीं है।

लेकिन यह क्या ज़रूरी है कि जीवन और कला का चरम प्रयोजन बुद्धिगम्य ही हो, और बीसवीं सदी के मध्य भाग तक पूर्णतया समझ ही लिया गया हो ? प्रगतिवादी इस प्रकार के किसी अनर्गल रहस्यवाद को स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

पर क्या यह ठीक है कि प्रगतिवाद का विशिष्ट प्रयोजन एकांगी सत्य को स्वीकार करके सिद्ध हो सकता है ? हमें इसमें सन्देह है। हम डॉ० रामविलास के शब्दों में कहें—प्रगतिवादी साहित्य को भी साहित्य होना चाहिए। यदि प्रगतिवादी साहित्य को प्रभावशाली साहित्य बनना है तो उसके लेखकों-समीक्षकों को यह खोज करनी ही पड़ेगी कि अतीत के महान् साहित्यकारों ने किस प्रकार अपनी कृतियों को प्रभविष्णु बनाया था।

हमारा अनुमान है कि प्रगतिवाद का विशिष्ट सन्देश तभी प्रभावशील रूप में प्रकट होगा जब उसे जीवन की सम्पूर्ण अकुण्ठित अभिव्यक्ति के बीच ग्रथित और प्रतिष्ठित किया जायगा। इस सम्बन्ध में हमने 'युग और साहित्य' निबन्ध में ('साहित्य-चिन्ता' में) विस्तार में विचार किया है। अन्ततः मार्क्सवाद जीवन के बारे में एक सत्य है, एक-मात्र सत्य नहीं; दूसरे महापुरुषों द्वारा उद्घाटित सत्यों से अलग रहकर नहीं, उनमें गुँथकर ही वह मानवता की महत्त्वपूर्ण धरोहर बन सकेगा।

और इसी प्रकार, पूर्णतया प्रभावशील बनने के लिए, साहित्य-सृष्टि पर उचित प्रभाव डाल सकने के लिए, प्रगतिवादियों को समीक्षक ही नहीं, सहृदय भी बनना पड़ेगा। उन्हें इतना नैतिक साहस बटोरना होगा कि वे मीर और बिहारी की वाणी की मुक्तकण्ठ से दाद दे सकें। हमारा विश्वास है कि अनुयायियों की सत्य को मानने-कहने की प्रवृत्ति से कभी किसी सम्प्रदाय को हानि नहीं पहुँचती। सच यह है कि वास्तविक प्रगतिवादी कभी कट्टर अर्थ में साम्प्रदायिक नहीं हो सकता।

आर्य-समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने सुधार की झोंक में 'रघुवंश', 'रामचरितमानस' आदि काव्यों का बहिष्कार करने का आदेश दिया था। सहृदय विद्वानों ने सादर उनके इस आदेश को अस्वीकृत कर दिया। जिन अनुयायियों ने उसे माना, उन्होंने अपने जीवन की सांस्कृतिक सरसता को अनजाने क्षत कर लिया। बिहारी, मीर, विद्यापति और मेघदूत के गायक का बहिष्कार भी अन्ततः

मनुष्य की सांस्कृतिक समृद्धि के लिए क्षतिदायक होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

अब तक हमने जो कहा उससे आप यह निष्कर्ष न निकालें कि हम प्रगतिवाद के विशिष्ट दृष्टिकोण के विरोधी हैं। नैतिक-सामाजिक दृष्टि से प्रस्तुत लेखक का आदर्श प्रायः वही है जो समाजवाद और साम्यवाद का, पर इसके लिए वह मार्क्सवाद के विशिष्ट दर्शन को, अथवा प्रगतिवाद के आलोचनात्मक मानों को, समग्रता में स्वीकार करना जरूरी नहीं समझता—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सच बोलने की उपयोगिता को स्वीकार करने का अर्थ किसी विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय का अनुयायी होना, अथवा ईश्वरवादी होना, नहीं है।

अतिरिक्त टिप्पणी

ऊपर के निबन्ध में प्रगतिवादी मान्यताओं की समीक्षा विशुद्ध वैज्ञानिक 'स्पिरिट' में, साहित्य की रसात्मकता की दृष्टि से की गई है। ल्यूकैक्स ने भी इसी दृष्टि से 'सामाजिक विषय-वस्तु' के मन्तव्य को रखा है। उक्त लेखक के अनुसार उच्चतम साहित्य की विषय-सामग्री सामाजिक जीवन रहा है, और होना ही चाहिए। महाप्राण साहित्य सदा से सामाजिक कशमकश का चित्र खींचता आया है। अतः ऐसे साहित्य में चित्रित पात्र व्यक्तित्वशाली होते हुए भी 'टाइप' होते हैं—अपने युग की संचालक शक्तियों के प्रतीक। हिन्दी में प्रेमचन्द के पात्र ऐसे ही हैं।

हमारा विचार है कि साहित्य में व्यक्त होने वाली अनुभूति की कई सिम्तें, आयाम या Dimensions होती हैं। सामाजिक 'डाइमेन्शन' प्रमुख हो सकती है, पर वह एक-मात्र डाइमेन्शन नहीं है। कम-से-कम दो सिम्तें और हैं, विशुद्ध मनोवैज्ञानिक तथा रिलीजियो-फिलॉसफिक (दार्शनिक-धार्मिक)। ये तीनों सिम्तें परस्पर निरपेक्ष न होते हुए भी विविक्त की जा सकती हैं।[1] विश्व के अधिकांश महान् साहित्यकार जिन्होंने युग-चित्र दिये हैं, सामाजिक सिम्त में अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न थे। किन्तु दास्ताएव्स्की का महत्त्व मुख्यतः मनोवैज्ञानिक सिम्त की गहरी अनुभूति में है। 'मेघदूत' और रवीन्द्र, शैली आदि की महत्ता का भी यही रहस्य है। रवीन्द्र, गेटे आदि में रिलीजियो-फिलॉसफिक सिम्त की झलकें भी

१. 'डाइमेन्शन' के लिए सिम्त शब्द के प्रयोग का सुझाव श्री शिवदानसिंह चौहान से मिला है। 'रिलीजस' और धार्मिक की ध्वनियों में अन्तर है, पर दूसरा शब्द न मिलने से 'धार्मिक' का प्रयोग करना पड़ा है। अनुभूति की इन सिम्तों के विस्तृत विवेचन का यहाँ स्थान नहीं।

हैं। शेक्सपियर तथा टॉल्स्टॉय तीनों ही सिम्तों की अभिव्यक्ति में महान् हैं।

जीवन की समग्रता के प्रति प्रतिक्रिया को हमने दार्शनिक-धार्मिक वृत्ति कहा है। इसी का एक रूप अनास्था और सन्देह है। हमारा अनुमान है कि तथाकथित प्रयोगवादी काव्य युग की उस अनास्थामूलक संवेदना को व्यक्त करने का प्रयत्न है जो विज्ञान द्वारा प्राचीन नैतिक-धार्मिक दृष्टियों के विघटन और महायुद्धों द्वारा उत्थापित नैराश्य के वातावरण से उद्भूत हुई है। प्रथम महा-युद्ध के बाद यूरोप में भी ऐसे काव्य की लहर आई थी। सिद्धान्ततः हम ऐसे साहित्य के विरोधी नहीं। हम नहीं समझते कि किसी को ठोक-पीटकर, कृत्रिम उपायों से, आस्थावान् एवं आशावादी, अथवा आस्तिक या मार्क्सवादी बनाया जा सकता है। किन्तु हमारा अनुमान है कि शैली-विषयक अतिजागरूकता अथवा अन्य किन्हीं कारणों से प्रयोगवादी काव्य मार्मिक नहीं हो पा रहा है।

निबन्ध में प्रगतिवादी व्यावहारिक आलोचना की समीक्षा कुछ अतिरंजित है, सो इसलिए कि उक्त आलोचना की कमियों पर तेज रोशनी पड़ सके। यों हम जानते हैं कि डॉ० रामविलास ने छायावादी काव्य और कवियों का सहानु-भूतिपूर्ण विवेचन किया है; यही बात प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि पर लागू है। विशेषतः प्रस्तुत लेखक को इस दिशा में कोई व्यक्तिगत शिकायत नहीं। 'पथ की खोज' की जो पाँचेक महत्त्वपूर्ण समीक्षाएँ ('हंस', 'नया साहित्य' और 'प्रतीक' में) निकलीं उनमें श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री नेमिचन्द्र जैन की समीक्षाएँ उतनी ही एकांगिताशून्य थीं जैसी अन्य सहानुभूतिशील आलोचकों की।[२] फिर भी हमें दो बातें कहनी हैं। एक यह कि प्रगतिवादी आलोचकों को श्रेष्ठ साहित्य के दूसरे (सामाजिकता एवं प्रगतिशीलता से भिन्न) उपादानों की न केवल उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, बल्कि उनके सम्बन्ध में चिन्तन और विचार भी करना चाहिए। दूसरे, जिस लेखक को अन्य समीक्षक (तथा पाठक) अच्छा समझते हैं उसकी श्रेष्ठता से इन्कार करने का उन्हें हठ नहीं करना चाहिए।

जैनेन्द्र और अज्ञेय दोनों ही में सामाजिक यथार्थ का चित्रण कम है, दोनों व्यक्तिवादी हैं, फिर भी दोनों महत्त्वपूर्ण लेखक हैं—शायद वे अनुभूति की दूसरी सिम्तों को पकड़ते हैं। इसके विपरीत प्रेमचन्द में 'दार्शनिक-धार्मिक'

---

२. इधर प्रगतिवादी समीक्षकों तथा साहित्यिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है जो स्वागत के योग्य है। प्रगतिवादियों ने साहित्य के सामाजिक पहलू पर गौरव देकर निःसन्देह हमारी समीक्षा-दृष्टि को समृद्ध किया है।

सिम्त की अनुभूति का अभाव है। देखने तथा विचार करने की बात यह है कि कहाँ तक एक या दूसरी सिम्त से सम्बद्ध अनुभूति की कमी लेखक की कला को कमज़ोर बनाती है। सम्भवतः सामाजिक अनुभूति उपन्यासकार के लिए सबसे अधिक अपेक्षित है। पर क्या, विभिन्न लेखकों की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा, यह दिखाया जा सकता है कि उक्त अनुभूति की कमी-वेशी उनकी दूसरी अनुभव-सिम्तों के उद्घाटन पर भी असर डालती है? अवश्य ही यह कार्य सूक्ष्म तथा गहरे विश्लेषण की अपेक्षा रखता है, फिर भी समीक्षकों को उसका प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे प्रयत्न के बिना वे साहित्यकारों अथवा साहित्य-सृष्टि पर गम्भीर प्रभाव नहीं डाल सकेंगे।

: २ :

समाज-शास्त्रीय आलोचना

समाज-शास्त्रीय आलोचना को आलोचना की एक प्रमुख दृष्टि अथवा प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित करने का अधिकांश श्रेय मार्क्सवाद को है। संक्षेप में, समाज शास्त्रीय आलोचना किसी साहित्य-कृति के बारे में दो प्रश्न करती है। एक यह कि उस कृति को जो विशेष रूप प्राप्त हुआ है उसका उस कृति के निर्माण-काल की सामाजिक वास्तविकता से क्या सम्बन्ध है; अर्थात् कहाँ तक उसके उस रूप की व्याख्या तत्कालीन सामाजिक यथार्थ द्वारा हो सकती है। यहां व्याख्या से मतलब है कार्य-कारण रूप व्याख्या का। सामाजिक यथार्थ साहित्यिक कृतियों के विशिष्ट रूपों का कारणभूत होता है। दूसरा प्रश्न, जो समाज-शास्त्रीय आलोचक उठाता है, यह है—कृति-विशेष या आलोच्य कृति का तत्कालीन समाज पर क्या प्रभाव पड़ा ? उसने सामाजिक जीवन की दिशा को किस प्रकार प्रभावित किया ?

हमने कहा कि समाज-शास्त्रीय समीक्षा-दृष्टि के प्रचार का विशेष श्रेय कार्लमार्क्स के अनुयायियों को है। मार्क्सवाद मानता है कि सब प्रकार की चेतना विभिन्न सत्ताओं द्वारा निर्धारित होती है; सत्ता मौलिक है, चेतना उसका विकार या प्रतिफलन। तत्त्व-मीमांसा (Ontology) में इस सिद्धान्त का मतलब होता है भौतिकवाद, अर्थात् विश्व-सृष्टि में चेतन के ऊपर जड़ की प्रधानता का सिद्धान्त। विश्व-सृष्टि में सामान्यतया जड़-तत्त्व की सत्ता पहले है, चैतन्य अथवा चेतना की बाद को। इस सामान्य सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप यह मान्यता है कि सामाजिक चेतना, जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, आचार-शास्त्र, साहित्य आदि में होती है, अपने मूल रूप में सामाजिक सत्ता द्वारा निर्धारित की जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि युग-विशेष एवं समाज-विशेष का साहित्य अनिवार्य रूप में अपने देश-काल की वास्तविकताओं को प्रतिफलित करता है। यहाँ शायद 'अनिवार्य' विशेषण सर्वांश में उपयुक्त नहीं है; यह भी सम्भव है कि एक लेखक या साहित्यकार अपने युग से तटस्थ रहता हुआ

विगत युग की भावनाओं की पुनरावृत्ति करता रहे। लेकिन ऐसा लेखक अपने युग का प्रतिनिधि लेखक न बन सकेगा। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'भारतेन्दु' का प्रेम-काव्य और 'रत्नाकर' की कृतियाँ उनके विशिष्ट युगों की प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं हैं।

तो, श्रेष्ठ साहित्य, अथवा वह साहित्य जो ऐतिहासिक महत्त्व को प्राप्त करता है, स्वभावतः युग-जीवन के तत्त्वों से ग्रथित होता है—वह अपने समय के सामाजिक यथार्थ को प्रकट या प्रतिफलित करता है। साथ ही वह युग-जीवन का दिशा-निर्देश भी करता है, वह युग-जीवन को बदलने का अस्त्र भी बन जाता है।

इस 'बदलने' की प्रेरणा को इस साधारण रूप में समझा जा सकता है कि कलाकार जनता में बदले हुए यथार्थ के प्रति नये ढंग से रागात्मक प्रतिक्रिया करने की, अथवा उसके प्रति नये मनोभाव बनाने की, सचेष्टता उत्पन्न करता है। संवेदनशील होने के कारण कलाकार नये वातावरण में नये ढंग से प्रतिक्रियाएँ करता है और वह अपनी इन प्रतिक्रियाओं को जनता अथवा पाठकों में संक्रान्त कर देता है। इस प्रकार कलाकार अपने पाठकों को नई रागात्मक स्थितियों से परिचित करता हुआ उनका नये यथार्थ से भावना-मूलक सम्बन्ध जोड़ देता है।

किन्तु मार्क्सवादी आलोचक प्रायः 'बदलने' की इतनी मात्र प्रक्रिया से सन्तुष्ट नहीं होते। उनकी साहित्यकार से यह माँग रहती है कि वह जनता अथवा उसकी मनोवृत्ति को एक विशेष ढंग से बदलने की प्रेरणा दे—उन्हें, एक विशिष्ट परिभाषा के अनुसार, प्रगतिशील बनाये। जहाँ समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण का थोड़ा-बहुत प्रभाव प्रायः सभी देशों के आलोचकों पर पड़ा है वहाँ 'बदलने' की उक्त माँग का समर्थन सर्वत्र नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए जहाँ टी० एस० इलियट के काव्य की समाज-शास्त्रीय ढंग की छानबीन अथवा समीक्षा करने के प्रयत्न हुए हैं वहाँ अधिकांश अंग्रेजी आलोचकों ने उस काव्य को 'प्रगतिशीलता' की कसौटी पर कसने का प्रयत्न नहीं किया है।

अब हम समाज-शास्त्रीय आलोचना के महत्व और सीमाओं पर अपने विचार प्रकट करें।

'साहित्य-चिन्ता' में हमने आलोचना को रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या वर्णित करते हुए आलोचक के दो मुख्य काम बतलाये हैं—एक, कृति-विशेष को रसमय अथवा नीरस बनाने वाले उपादानों की ओर संकेत करना; और दूसरे, समुचित दृष्टिकोण से उस कृति का मूल्यांकन करना। अन्ततः साहित्य

को रसमय अथवा नीरस बनाने वाली चीज, हमारे मत में, जीवन की अर्थवती छवियों का सफल या असफल सन्निवेश है। संक्षेप में, साहित्य की विषय-वस्तु दो प्रकार की है। प्रथमतः साहित्य बाह्य परिवेश की उन छवियों या स्थितियों को सामने लाता है जो हमारी रागात्मिका प्रकृति को छूती या प्रभावित करती हैं। दूसरे, साहित्य उन मनोभावों, भावनाओं तथा वृत्तियों को प्रकाशित करता है जो उपर्युक्त स्थितियों द्वारा जगाई जाती हैं। सच यह है कि साहित्य की इस दो प्रकार की विषय-वस्तु को बुद्धि द्वारा विविक्त किया जा सकता है, किन्तु व्यवहार में अलग किया नहीं जा सकता। जहाँ आत्मनिष्ठ कोटि के कलाकार भावनाओं या मनोवृत्तियों को मूर्त करने का अधिक प्रयत्न करते हैं वहाँ वस्तुनिष्ठ कलाकार उन मनोवृत्तियों की प्रेरक परिस्थितियों के विशद चित्र उपस्थित करते हैं। बात इतनी ही नहीं है। जिसे हम बाह्य परिस्थिति कहते हैं वह केवल भौतिक पदार्थों या शक्तियों का संगठन-मात्र नहीं होती—उसमें दूसरे नर-नारियों की भावनाएँ और मनोभाव (Attitudes) भी सम्मिलित होते हैं। उदाहरण के लिए राम के वन-गमन-प्रसंग में कैकेयी की महत्वाकांक्षा, भरत की निःस्पृहता और मातृ-स्नेह तथा दशरथ, सुमन्त, सीता आदि की भावनाएँ भी परिवेश अथवा बाह्य स्थिति का अंग बन जाती हैं। किन्तु जहाँ कवि स्वयं ही वक्ता है, जैसे कि गीतों अथवा अन्य मुक्तक काव्य में, वहाँ यह स्पष्टता से देखा जा सकता है कि वह आत्मनिष्ठ कोटि का कलाकार है अथवा वस्तुनिष्ठ कोटि का। इस दृष्टि से छायावादी तथा प्रयोगवादी काव्य दोनो ही आत्म-परक काव्य कहे जा सकते हैं।

फिर भी अधिक सच यह कहना है कि अधिकांश काव्य में बाह्य और आंतरिक वास्तविकताएँ संकुल रूप में व्यक्त या प्रकाशित होती हैं।

तो फिर आलोचक का काम क्या है ?

साहित्य-सृष्टि और आलोचना दोनो ही सांस्कृतिक प्रयत्न हैं। संस्कृति के सम्बन्ध में हमारी सामान्य धारणा यह है कि वह अपने विभिन्न रूपों में विशेष दृष्टियों से अर्थवती वास्तविकताओं की चेतना उत्पन्न करने की प्रक्रिया या व्यापार है। साहित्य सांस्कृतिक प्रयत्न है क्योंकि वह हममें उस वास्तविकता की चेतना उत्पन्न करता है जो हमारी रागात्मक अन्तःप्रकृति के लिए सार्थकता रखती है। आलोचक एक प्रकार से साहित्यकार का सहकारी होता है। उसे मुख्यतः यह निर्देश करना होता है कि साहित्यकार ने जीवन के किस अंग को कितनी सफलता से प्रकट किया है। साहित्यकार ने जिन स्थितियों और मनोभावों को पाठक की चेतना में संक्रांत करना

चाहा है उन्हें आलोचक बौद्धिक धारणाओं द्वारा पकड़कर अधिक स्पष्ट और सुलभ रूप में ग्राह्य बना देता है। प्रायः साहित्य में निबद्ध छवियों और भावों को साधारण पाठक 'गूंगे के गुड़' के समान अर्द्ध-सचेत भाव से ग्रहण करते हैं। आलोचक का काम इस अर्द्ध-चेतना को पूर्ण-चेतना में परिवर्तित करना है। इस दृष्टि से आलोचना का मुख्य काम आलोच्य कृति की चेतनाविकासी व्याख्या प्रस्तुत करना है। इंगलैंड, फ्रांस और अमेरिका आदि के अधिकांश आलोचक आजकल यही कर रहे हैं। वे प्रायः मूल्यांकन से कतराते हैं।

आलोचक के उक्त कार्य में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण किस प्रकार सहायक हो सकता है? बात यह है कि युग की भाव-संवेदना में घुसकर कलाकार ने जो कुछ देखा और महसूस किया है उसका स्पष्टीकरण बड़ा कठिन काम है। पिछले युगों ने जिन वास्तविकताओं और समस्याओं को नहीं देखा उन्हें देखने की शिक्षा हमें समसामयिक स्कूलों अथवा विद्यापीठों से नहीं मिलती। यह शिक्षा हमें नई प्रतिभाएं देती हैं। इसलिए प्रतिभाशालियों की नई संवेदनाएं दुरूह लगती हैं। कुछ क्षेत्रों में कलाकार अनभिव्यक्त जन-चेतना को ही वाणी देता है; ऐसी जगह वह दुरूह नहीं भी लग सकता है। यहाँ हम 'भी' का प्रयोग इसलिए कर रहे हैं कि कभी-कभी जनता और आलोचक दोनो अपनी असली युगीन भावनाओं को स्वीकार करने से डरते हैं; और उन्हें प्रकट कर देने वाले कलाकारों को रोष-दृष्टि से देखते हैं। किंतु सामान्यतया कलाकार के जटिल मनोभाव जनता को सहज ग्राह्य नहीं होते; वे आलोचकों की पकड़ में भी सरलता से नहीं आते।

अतएव ऐसे भावों के स्पष्टीकरण के लिए आलोचक को घुमावदार रास्ते की शरण लेनी पड़ती है। यदि आलोचक ने दर्शन, राजनीति, आदि द्वारों से अपने युग का काफी परिचय प्राप्त कर लिया है तो यह बहुत सम्भव है कि वह जटिल साहित्यिक कृतियों की व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण कर सके।

दूसरे, समाज-शास्त्रीय दृष्टि कलाकार के मूल्यांकन में भी सहायक हो सकती है। आलोचक पूछ सकता है—कलाकार अपने जटिल युग-जीवन के कितने अंश को अभिव्यक्ति दे सका है? उसने युग-जीवन को कितनी गहराई और व्यापकता में उद्घाटित किया है? कलाकृतियों का रस हम एकान्त में बैठकर लेते हैं, उन्हें हम मुख्यतः आनन्द के लिए पढ़ते हैं। किंतु जब आलोचक उनका सम्बन्ध युग-जीवन से जोड़ता है तो हमें रसानुभूति के

साथ यह चेतना भी होती है कि उन कृतियों का ऐतिहासिक रंगमंच पर होने वाले विराट् परिवर्तनों से सम्बन्ध है। निश्चय ही यह चेतना हमें साहित्य और युग दोनों के समझने में सहायता देती है। आज हमें जान पड़ता है कि हम समाजशास्त्रीय दृष्टि के बिना साहित्य के पूरे महत्व को हृदयंगम नहीं कर सकते।

अब हम देखेंगे कि समाज-शास्त्रीय आलोचना का किस-किस प्रकार दुरुपयोग हो सकता है, और यह भी कि इस प्रकार की आलोचना की सीमाएं क्या हैं।

आलोचक का प्रमुख कार्य आलोच्य कलाकृति का स्पष्टीकरण और मूल्यांकन है; हमने ऊपर बताया कि किस प्रकार समाज-शास्त्रीय दृष्टि इन दोनों कामों में सहायक होती है। किंतु जहाँ आलोचक आलोच्य कृति का युग-जीवन से सम्बन्ध जोड़ता है वहाँ वह यह देखने की भी कोशिश करता है कि कलाकार जीवन के किस पहलू को कितनी सफलता से व्यक्त कर पाया है। (इस सफलता की प्रभावपूर्ण चेतना जगाने के लिए ही आलोचक अक्सर अभिव्यक्ति के उपकरणों का विश्लेषण करने लगता है। यह विश्लेषण पाठकों को एक-दूसरे प्रकार की चेतना भी देता है जिसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति की प्रक्रिया से ही विशेष रहता है।) समाज-शास्त्रीय आलोचना के साथ मुख्यतः दो खतरे रहते हैं। एक खतरा यह है कि ऐसा आलोचक जीवन के स्थूल सामाजिक रूपों को ही देखें और उसके सूक्ष्मतर स्पन्दनों की उपेक्षा कर डालें। कभी-कभी ऐसे समीक्षक कला-कृतियों का मूल्य आँकने बैठ जाते हैं जिनकी रस-संवेदना शिक्षित या विकसित नहीं है, पर जो अच्छे पंडित हैं। वे जीवन-दर्शन, नैतिक-राज-नैतिक मतवादों आदि पर अधिकार-पूर्वक बोल सकते हैं। क्योंकि ये चर्चाएं स्वयं अपने में महत्वपूर्ण हैं इसलिए वे यह भ्रम उत्पन्न कर सकती हैं कि आलोचक की बातें बड़ी महत्वशाली है। लेकिन महत्वशालिनी बातें भी अप्रासंगिक हो सकती हैं। उदाहरण के लिए छायावादी कवियों के सम्बन्ध में लिखते हुए कुछ आलोचक वेदान्त के सिद्धान्तों का लम्बा-चौड़ा विवरण देकर पाठकों पर आतंक जमा लेते हैं। (कामायनी की इस प्रकार की सिद्धांत-परक कुछ आलोचाएं हमारे देखने में आई हैं; कबीर आदि सन्त कवियों की भी कुछ ऐसी समीक्षाएं प्रस्तुत की गई हैं। साहित्यिक अर्थात् जीवनाभिव्यक्ति के सौष्ठव और शक्ति की दृष्टि से इन समीक्षाओं का अधिकांश भाग अप्रासंगिक होता है।)

समाज-शास्त्रीय आलोचना का दूसरा खतरा यह है कि वह प्रवृत्तियों के विश्लेषण में इतनी फँस जाय कि आलोच्य कृति में विशिष्ट जीवन को कितनी सफलता एवं मार्मिकता से अभिव्यक्त किया गया है, इस मूल प्रश्न को भूल जाय। यह खतरा और भी बढ़ जाता है जब समाज-शास्त्रीय आलोचक कलाकार से एक विशिष्ट सिद्धान्त या मतवाद की पुष्टि अथवा प्रचार की माँग करने लगता है। ऐसे आलोचक साहित्य में स्थूल मतवादी घोषणाओं को खोजने और पाने का प्रयत्न करते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें यह देखने का अवकाश नहीं रहता कि आलोच्य कृति में कोई अभिव्यक्ति कहाँ तक सफल अथवा रसमय हुई है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु की राष्ट्रीय कविताएं उतनी अच्छी नहीं हो सकी हैं जैसा कि उनका प्रेमकाव्य, समाज-शास्त्रीय एवं प्रगतिवादी आलोचकों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है।

हम मानते हैं कि अन्ततः साहित्य-सृष्टि एक विशेष कोटि की रस-संवेदना की वाहक और उस पर आश्रित है; अतः वह बड़े-से-बड़ा विचारक और पंडित, जिसने उस संवेदना को शिक्षित या विकसित नहीं किया है, साहित्य की आलोचना का अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिए हमें वे आलोचक कभी-कभी हास्यास्पद जान पड़ते हैं जो साहित्य की आलोचना करते हुए आर्थिक, राजनैतिक, दार्शनिक विचारकों या नेताओं की दुहाई दिया करते हैं।

आज के जैसे जटिल युग की संवेदना के वाहक कलाकार को समझने के लिए उस युग की अन्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से परिचित होना जरूरी हो सकता है, किंतु समीक्षक के लिए यह उससे कम जरूरी नहीं, बल्कि कहीं ज्यादा जरूरी है, कि उसने अनेक नये-पुराने कलाकारों के चरणों में बैठकर अपनी रस-संवेदना का परिष्कार किया हो। यदि आप मुझसे अपनी साहित्यिक रचनाओं की आलोचना के लिए उन दो समीक्षकों में से—जिनमें एक ने केवल वाल्मीकि कालिदास, सूर, तुलसी, बिहारी-विद्यापति और शेक्सपियर, टॉल्स्टाय आदि को पढ़ा है; और दूसरे ने केवल शंकर, धर्मकीर्ति, काण्ट, हेगेल, कार्लमार्क्स और बर्ट्रण्ड रसेल को—एक को चुनने को कहें तो मैं निश्चय ही पहले आलोचक को पसन्द करूँगा।

संक्षेप में, हमारे मतानुसार समाज-शास्त्रीय दृष्टि साहित्य को समझने का एक उपकरण है; वह पर्याप्त नहीं है। हम यह मानते हैं कि साहित्य में व्यक्त होने वाला जीवन मनुष्य का सामान्य—साधारणीकृत—जीवन है; किंतु यह जीवन स्थूल अर्थ में सामाजिक समझे जाने वाले जीवन का पर्याय न होकर

उससे कहीं अधिक व्यापक है। घर में बैठी प्रत्येक मा अपने शिशु की न जाने कितनी छवियों पर मोहित होती है; इस मोहित होने के रस का मानवता के स्वास्थ्य (और सम्भवतः अस्तित्व-रक्षण) से घनिष्ठ सम्बन्ध है; किन्तु उसका उल्लेख देश की किसी पार्लमेण्ट या विद्वत्सभा में नहीं होता। उस रसानुभूति का समाज-शास्त्रीय विवरण भी, शायद, नहीं दिया जा सकता। इसी तरह प्रकृति-काव्य और प्रेम-काव्य का समाज-शास्त्रीय विश्लेषण भी कुछ दूर तक ही प्रासंगिक हो सकेगा।

सच यह है कि साहित्य का कार्य और प्रयोजन दोनों ही स्थूल समाज-शास्त्रीय दृष्टि में निःशेष नहीं होते। वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रणाली के आधुनिक व्याख्याता कह रहे हैं कि विज्ञान के नियम सूक्ष्म तत्वों के औसत व्यवहार पर लागू होते हैं, वे Statistical average को प्रकट करते हैं। इसके विपरीत साहित्यकार वैयक्तिक हृदय की सूक्ष्मतम निराली प्रतिक्रियाओं को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न करता है। ये प्रतिक्रियाएँ 'साधारणीकृत' होती हैं—स्थूल सामाजिक सहयोग के धरातल पर नहीं, अन्तः प्रकृति के निभृत एकान्त में।

'रामचरित मानस' की अपेक्षा 'सूर सागर' निश्चय ही महत्तर काव्य है, किन्तु इस तथ्य का कोई समाज-शास्त्रीय हेतु नहीं बताया जा सकता। (काव्य की दृष्टि से 'मानस' में अयोध्या-काण्ड ही महत्वशाली है; अवश्य ही तुलसी के दूसरे काव्य-ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं।) वस्तुतः साहित्यिक श्रेष्ठता का असली माप जीवन है, मानवता का साधारणीकरण के योग्य भाव-प्रकृति से सम्बद्ध जीवन। किसी देश या युग का निराला सामाजिक जीवन वहीं तक साहित्य का विषय बनता है जहाँ तक वह मनुष्य की अन्तःप्रकृति का आलोड़न करता अथवा उसके प्रवाह को रुद्ध करता है। साहित्यकार सामाजिक, संस्थाबद्ध जीवन को मुख्यतः इसी दृष्टि से देखता है—अन्तः प्रकृति की निजी जरूरतों की दृष्टि से। साहित्यकार, मुख्यतः, अन्तःप्रकृति का प्रवक्ता और संरक्षक है। और चूँकि यह अन्तःप्रकृति मनुष्य-मात्र में सामान्य है, इसलिए, अपने गहरे रूप में, साहित्य वर्ग-विशेष के लिए नहीं, मानव-मात्र के लिए होता है। इसलिए यह निश्चित है कि एक अधील पूँजीवादी को मैक्सिम गोर्की का 'मा' उपन्यास हृदयस्पर्शी लगेगा; यद्यपि, अन्तः प्रकृति से असम्पृक्त और बाहरी स्वार्थों से सम्पृक्त सामाजिक जीवन में, वह वैसी साहित्य-सृष्टि का विरोधी हो सकता है।

साहित्यकार अन्याय और गरीबी का विरोध कर सकता है—किसी वर्ग के नाम पर नहीं, बल्कि उस सार्वभौम 'मा' के नाम पर जिसे अपने शुष्क स्तनों में दूध लाने के लिए पुष्टिकर भोजन चाहिए, उस सार्वभौम रोगी के नाम पर

जिसे डॉक्टर की देख-रेख और दवा चाहिए, मानवता की उस स्वाभिमान-भावना के नाम पर, जो साहित्यकार द्वारा कुरेदी जाकर, एक संवेदनशील शूद्र युवक के लिए समान मनुष्यता का अधिकार माँगती है। श्रेष्ठ साहित्य हर हालत में 'मानव' को अपील करता है, वर्ग-विशेष को नहीं—वह मानवता के साधारणीकृत जीवन-स्पन्दन का वाहक होता है। इस सचाई को हठपूर्वक अस्वीकार करने का अर्थ है—वर्गहीन समाज में साहित्य-सृष्टि की सम्भावना से इनकार करना। इसके विपरीत हमारा अनुमान है कि वर्गहीन समाज में ही शत-प्रतिशत रूप में साधारणीकृत सामाजिक साहित्य लिखा जा सकेगा। बात यह है कि स्वार्थमूलक दल-बन्दियों के समाज में श्रेष्ठ कलाकार कभी-कभी और कम श्रेष्ठ कलाकार अक्सर दल-विशेष की 'बाहरी' माँगों का पोषण करता हुआ अन्तःप्रकृति की मूल प्रेरणाओं से विच्छिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' में वर्ग-चेतना का अंश अधिक है, 'सूरसागर' में मूल मानवीय चेतना का। यह बात आज जितनी स्पष्ट देखी जा सकती है उतनी तुलसी के समय में नहीं देखी जा सकती थी।

दल-विशेष के स्वार्थ से भिन्न साहित्य तथा अन्य सांस्कृतिक प्रयत्नों का क्या निगूढ़ प्रयोजन होता है इसकी छानबीन के लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध की आवश्यकता होगी। यहाँ हम सिर्फ इतना कह दें कि संस्कृति का कोई भी अंग—साहित्य, दर्शन, आचार, नीति—पूर्णतया वर्ग-विशेष के स्वार्थों से निर्धारित नहीं होता; प्रत्येक सांस्कृतिक प्रयत्न की मानव-मात्र के लिए कुछ सार्थकता होती है जिसके कारण वह प्रयत्न, अपने अनुष्ठाता वर्ग के ऐतिहासिक लोप या तिरोधान के बाद भी, आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए मूल्यवान धरोहर बना रहता है।

: ३ :

अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा

अतीत सहित्य को हम क्यों पढ़ते हैं ? 'लखनऊ-लेखक-संघ' में एक दिन यह चर्चा छिड़ी, पर विभिन्न हठपूर्ण सम्मतियों के कोलाहल में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका। कुछ लोगों ने कहा—अतीत की संस्कृति को समझने लिए हम तब का साहित्य पढ़ते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि हम अतीत की संस्कृति को ही क्यों समझना चाहते हैं ? दूसरे लोगों के अनुसार हम अतीत के इतिहास और साहित्य को इसलिए पढ़ते हैं कि आज के जीवन के लिए शिक्षा ले सकें। यहाँ भी एक प्रश्न उठ खड़ा होता है—यह शिक्षा लेने की प्रक्रिया क्या है, और शिक्षा लेने के लिए आज के शिक्षक पर्याप्त क्यों नहीं हैं ?

इसी सम्बन्ध में अतीत साहित्यकारों के जीवन-दर्शन की चर्चा भी की जाती है। कतिपय समीक्षकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व के 'क्लासिकल' कवि अथवा लेखक किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील जीवन-दर्शन के शिक्षक अथवा प्रचारक थे। कहना नहीं होगा कि इस प्रगतिशीलता की व्यापक और संकीर्ण अनेक व्याख्याएँ सम्भव हैं। उदाहरण के लिए डॉ० भगीरथ मिश्र ने रीतिकाल-सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में कविवर बिहारीलाल तथा देव के वेदान्त-परक एवं वैराग्यवादी पद्यों को उद्धृत करके उन्हें महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसके विपरीत श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपनी कुछ समीक्षाओं में सूर, तुलसी आदि की जनहित की भावना पर गौरव दिया है।

किसी भी समस्या का समाधान एक बाहरी विश्लेषण की सतह पर किया जा सकता है, और वह समाधान बहुत गहराई में घुसकर ऐसे धरातल पर खोजा और प्राप्त किया जा सकता है जहाँ जीवन की बहुत-सी दूसरी समस्याएँ एक मिलनबिन्दु पर आकर केन्द्रित होती हैं। ऊपर के प्रायः सभी दृष्टिकोणों में सच्चाई का अंश है, उनकी कमी यही है कि वे मानव-जीवन और मानव-संस्कृति की वैविध्यपूर्ण, व्यापक पीठिका से सुसम्बद्ध नहीं हैं।

चिन्तन के क्षेत्र में प्रायः अनेक कठिनाइयाँ इसलिए उपस्थित होती हैं कि

हम चिन्तन-प्रक्रिया में पूर्णतया ईमानदार होने की कोशिश नहीं करते। युग अथवा प्रचलित दृष्टियों के भय से हम बाह्य अथवा आन्तरिक यथार्थ को पूरा-पूरा नहीं देखते, और यदि देखते भी है तो उसे स्वीकार नहीं करते। फलतः हमारा तत्सम्बन्धी चिन्तन एकांगी हो जाता है—जिस एकांगिता को हम बचा सकते थे, उसे भी नहीं बचा पाते। अतएव चिन्तन की प्रगति एक प्रकार से नैतिक प्रगति भी होती है, क्योंकि वह क्रमशः हमें यथार्थ को देखने का अधिक साहस देती है।

यदि हम अपने सहज अनुभव पर विश्वास करें तो, कम-से-कम अतीत साहित्य के बारे में यह कह सकते हैं कि हम मुख्यतः उसे रस के लिए पढ़ते हैं। भले ही एक अन्वेषक पंडित 'मेघदूत' अथवा 'बिहारी सतसई' को उन युगों की संस्कृति समझने के लिए पढ़े, अथवा इस कर्तव्य-भावना से कि उनके अध्ययन से देश की संस्कृति की रक्षा होती है, किन्तु साहित्य के अधिकांश फक्कड़ प्रेमी इन दुश्चिन्ताओं से मुक्त होते हैं। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों को प्रस्तुत लेखक ने कभी दोबारा देखने की कोशिश भी नहीं की, जबकि कुछ नाटकों और महाकाव्यों को वह लगातार पढ़ता आया है। कारण यह नहीं कि दूसरी कोटि के ग्रन्थ भारतीय-संस्कृति का ज्यादा प्रामाणिक परिचय देते हैं—वह परिचय तो एक आनुषंगिक और गौण बात है; साफ और सच्ची बात यह है कि उसे उनमें रस मिलता है।

साहित्य की उपयोगिता को किसी 'जीवन-दर्शन' अथवा 'जनहित' की परिधि में सीमित करके नहीं देखा जाता। हमारा अनुमान है 'मेघदूत' जैसी कृतियों की उपयोगिता उक्त दोनों कोटियों से भिन्न प्रकार की है। 'जीवन-दर्शन' की कसौटी न केवल कुछ कृतियों के लिए अपूर्ण है—वह विशिष्ट कलाकार के सम्पूर्ण कृतित्व को आँकने का भी अनिवार्य पैमाना नहीं है। दूसरे, 'जीवन-दर्शन' कलाकार बहुत-कुछ अपने समाज और वातावरण से लेता है; वह खास तौर से उसकी अपनी लब्धि नहीं होता।

विश्व-साहित्य में ऐसे अनेक बड़े कलाकार हुए हैं जिन्होंने कोई स्पष्ट सन्देश या 'जीवन-दर्शन' अपने समाज को नहीं दिया है। मार्क्सवादियों का विचार है कि संसार के सारे दर्शनों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, एक अध्यात्मवादी और दूसरे भौतिकवादी। स्थूल-रूप में यह वर्गीकरण स्वीकार किया जा सकता है। प्रश्न है—क्या हम कालिदास, शेक्सपियर जैसे लेखकों को विशुद्ध-रूप में अध्यात्मवादी कह सकते हैं? कालिदास को ही लीजिए। इस कवि ने विशुद्ध ऐहलौकिक सुख-भोग का समर्थन करने वाली पंक्तियाँ भी

लिखी हैं और ऐसे पद्य भी जिनमें वैराग्य, लौकिक-सुख-निरपेक्षता आदि का महत्त्व-स्थापन है। वसन्त ऋतु में कवि की कोकिला किसी युवती से कहती है—'अपने मान को छोड़ो भी, प्रियतम से किये हुए झगड़े को खत्म करो; गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता।' उसी कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशियों की इस प्रवृत्ति की प्रशंसा की है कि वे यौवन ढलते ही राज्य का मोह छोड़कर वनवासी हो जाते थे। आप कालिदास को भौतिकवादी कहेंगे या अध्यात्मवादी?

उक्त कवि ने एक ओर जितेन्द्रिय तपस्वियों के सुन्दर चित्र दिए हैं तो दूसरी ओर स्वच्छन्द विहार करने वाले प्रणयी प्रेमियों के। दोनों में कौन-से चित्र कालिदास के 'जीवन-दर्शन' को व्यक्त करते हैं? और यह प्रश्न कालिदास के ही नहीं, संसार के किसी भी महान् साहित्यकार के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है। कहा जाता है कि भारतवर्ष अध्यात्म-प्रधान देश है, लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि श्रृङ्गार के क्षेत्र मे जितनी सरस और मांसल कविता हमारे देश में लिखी गई है, वैसी शायद किसी दूसरे देश में नहीं लिखी गई। कालिदास, भारवि, माघ, अमरुक आदि ही नहीं, सूरदास एवं विद्यापति जैसे भक्त-कवि भी इसका ज्वलन्त निदर्शन हैं। शिव, विष्णु आदि देवों के प्रति निवेदित हमारा समूचा स्तोत्र-साहित्य श्रृङ्गार के खुले संकेतों से ओत-प्रोत है। और यदि यह साहित्य अध्यात्मवादी है, तो फिर भौतिकवादी साहित्य किसे कहा जायगा?

हम अपनी बात दुहराते हैं—साहित्य और कला की उपयोगिता 'जीवन-दर्शन' तक सीमित नहीं है। अतीत साहित्य के बारे में भी यह सत्य है, क्योंकि अतीत का 'जीवन-दर्शन' आज हमें और भी कम ग्राह्य होगा। फिर भी एक अर्थ है जिसमें साहित्यकार हमें उपयोगी 'जीवन-दृष्टि' दे सकता है। किन्तु यह दृष्टि साहित्य के सामान्य प्रयोजन से विच्छिन्न नहीं होती। इस सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

तो, अतीत साहित्य को हम क्यों पढ़ते हैं? उत्तर है—बहुत-कुछ उसी कारण से जिस कारण से हम वर्तमान साहित्य को पढ़ते हैं। अतीत साहित्य को हम इसलिए पढ़ते हैं कि वह आज भी हमारे जीवन-स्पन्दन को वेगपूर्ण एवं समृद्ध बनाने की क्षमता रखता है। आज भी वह यथार्थ की अर्थवती छवियों में हमारी चेतना का प्रसार करता हुआ हमारे व्यक्तित्व को अधिक सचेत, रसमय और सृजनशील बनाता है। जिस साहित्य की यह क्षमता इतिहास के वर्तमान समय-बिन्दु तक निश्शेष नहीं हुई है, वह 'क्लासिकल' साहित्य है। इसी प्रकार अतीत के उन विचारकों की कृतियाँ, जो आज भी हमारी जिज्ञासा और कुतूहल की भावना को जागृत करती हैं, जो आज भी हमारे मस्तिष्क को

झकझोरने की शक्ति रखती हैं, अपने-अपने विषयों की 'क्लासिक्स' कहलाती हैं। उपनिषद् और भगवद्गीता, बुद्ध, प्लेटो, अरस्तू, शंकर आदि की कृतियाँ अथवा उक्तियाँ इसी अर्थ में आज भी अर्थवती है। इस तथ्य को न समझकर उक्त कृतियों के 'ऐतिहासिक' महत्त्व की बात करना निरा बालकपन है।

सच यह है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है; वह अपने वर्तमान को ही नहीं, अतीत को लेकर भी जीवित रहता है। वस्तुतः हमारे जीवन में अतीत की स्मृतियाँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, वर्तमान के इन्द्रिय-संवेदन उतने महत्त्वपूर्ण नहीं। हमारे जीवन की महत्ता मुख्यतः हमारी स्मृतियों में है—हमारी राजनैतिक तथा आर्थिक क्रांतियाँ, हमारी धार्मिक-नैतिक शिक्षाएँ तथा विश्वास, हमारी सैकड़ों विचार-पद्धतियाँ ये सब मानव-जाति की बहुमूल्य स्मृतियाँ ही हैं। आज रवीन्द्र और गांधी भी हमारे लिए स्मृति बनकर रह गए हैं; वे हमारे इतिहास की चीज हैं, हमारे वर्तमान की नहीं। इन स्मृतियों को ही हम परम्परा अथवा सांस्कृतिक धरोहर कहते हैं।

इस धरोहर का वास्तविक अर्थ एवं मूल्य समझने के लिए हमें कुछ और गहराई में घुसना पड़ेगा। डार्विन का विकासवाद बतलाता है कि विभिन्न जीव-योनियों का विकास और उन्नति उन अनुकूल परिवर्तनों के इकट्ठे होने से घटित होती हैं जो आने वाली पीढ़ियों की शरीर-रचना में संक्रान्त हो जाते हैं। अनुकूल परिवर्तनों का संरक्षण और संक्रमण यही जीवयोनियों के विकास का रहस्य है।

लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के इतिहास में उस प्रकार के विकास की सम्भावनाएँ अब खत्म हो चुकी हैं। मनुष्य को उत्पन्न करके मानो प्रकृति की विकास-क्रिया दूसरे साधनों को लेकर भिन्न ढंग से अग्रसर होने लगी है। मानव-व्यक्तित्व में जो अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन होते हैं, वे मुख्यतः शारीरिक अथवा बीजगत (Germ Plasm को प्रभावित करने वाले) नहीं होते। अब वे परिवर्तन आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक होते हैं। हमारे बदलते हुए विचार, मनोभाव, रागात्मक संवेदनाएँ, नैतिक आदर्श आदि ही वे परिवर्तन हैं जो मानवता के स्वरूप को निर्मित और प्रभावित करते हैं। अवश्य ही इनमें कुछ परिवर्तन कम महत्त्वपूर्ण होते हैं, कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण। दूसरे शब्दों में कहें तो मानवता की निजी गहरी दृष्टि से कुछ विचारकों के विचार तथा कुछ कलाकारों की संवेदनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, कुछ की कम। इस प्रकार के परिवर्तनों में मानव जाति जिन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण समझती है, उन्हें रक्षित कर लेती है; शेष को भुला देती है। ये रक्षित महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिवर्तन

ही 'क्लासिक्स' है। आगे आने वाली पीढ़ियाँ इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को वंशानुक्रम से नहीं पातीं। वे परिवर्तन मनुष्य के शरीर अथवा मस्तिष्क की परिवर्तित रचना के रूप में चरितार्थ नहीं होते; वे भाषा आदि प्रतीकों में बँधकर पड़े रहते हैं। मानवता का साम्प्रतिक विकास आवश्यक रूप में उसके द्वारा किये जाने वाले प्रतीकों के उपयोग पर निर्भर है। गणित-शास्त्र का शानदार इतिहास, जिस पर भौतिक-शास्त्र की सारी उन्नति अवलम्बित है, ज्ञान की प्रतीकाधारित प्रगति का अद्भुत निदर्शन है। दूसरे क्षेत्रों में भी हमारे विचारों और भावनाओं की प्रगति दूसरे प्रकार के (मुख्यतः शब्दमय) प्रतीकों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से देखने पर अतीत साहित्यिक तथा विचारात्मक कृतियों का महत्व एक दूसरी ही रोशनी में दिखाई देने लगता है।

गणित के नवीनतम अन्वेषण, उसकी प्राचीनतम तथा सरलतम स्थापनाओं पर निर्भर करते हैं। यह नहीं हो सकता कि कोई विद्यार्थी सिर्फ नये अन्वेषणों को सीखने की इच्छा रखे और पहले की स्थापनाओं की अवज्ञा करे। कुछ उसी प्रकार आज का दर्शन और साहित्य भी अतीत साहित्य और दर्शन पर निर्भर है। शायद आप कहें कि गणित की मिसाल ठीक नहीं, क्योंकि कालिदास और तुलसी अथवा शंकर और रसेल में वैसा आवश्यक या अखण्ड तर्कात्मक सम्बन्ध नहीं है जैसा कि गणित की पुरानी और नई स्थापनाओं में। उत्तर में निवेदन है कि तर्कात्मक न होते हुए भी पूर्वकथित सम्बन्ध आकस्मिक या अनावश्यक नहीं हैं। इस समय का महान् दार्शनिक अथवा महाकवि वह नहीं बन सकता जो सिर्फ अपने युग को जानता है, बल्कि वह जिसका चिन्तन और संवेदन क्रमशः अतीत के तर्क-वितर्क और सौन्दर्य-बोध को आत्मसात् करके समृद्ध बन चुके हैं। बात यह है कि आज के युग की जहाँ अपनी दार्शनिक गुत्थियाँ और अपना जीवन-बोध है वहाँ प्राचीन समस्याएँ तथा जीवन-बोध भी उसका अनिवार्य अंग बन चुके हैं। प्राचीन प्रश्नों और समाधानों के आलोक में ही आज की समस्याओं का निरूपण और उनके हल का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन सौन्दर्य-बोध की पृष्ठभूमि में ही आज की संवेदना का ताना-बाना बुना जाता है। यह नहीं कि आज का दार्शनिक या कवि प्राचीन की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु ऐसा करके वह जिस चिन्तन-पद्धति या कला की सृष्टि करेगा, वह अनुपात-शून्य एवं विकलांग होगी, वह युग की सम्पूर्ण अर्थात् पूर्ण रूप में संस्कृत चेतना को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी।

युग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना में वे सारे तत्त्व मौजूद रहते हैं, जिनका आकलन या अनुचिन्तन अतीत की किसी भी कालावधि में स्थायी महत्त्व की

वस्तु समझा गया था। आज हम प्राचीन शिक्षकों और कवियों की उक्तियों को समग्र जीवन-दर्शन अथवा समूचे सौन्दर्य-बोध के रूप में भले ही स्वीकार न करें, किन्तु उन्हें हम एकान्त मिथ्या कहकर अस्वीकार नहीं कर सकते। मानव शरीर की जिन उपयोगी क्रियाओं अथवा अंगों का विकास की लम्बी यात्रा में समय-समय पर आविर्भाव हुआ है, वे सभी आज किसी-न-किसी रूप में हमारे साथ हैं; उनके ऐतिहासिक विकास तथा स्वतन्त्र अस्तित्व को ठीक से समझे बिना हम अपनी वर्तमान भौतिक गठन को सही तौर से नहीं समझ सकते। यही बात हमारी मानसिक और आध्यात्मिक गठन पर लागू है। ज्ञान के क्षेत्र में विश्लेषण और समन्वय दोनों साथ-साथ चलते हैं। किसी तथ्य या समस्या का विश्लेषण जितना बारीक और बहुमुखी होगा, बाद में मिलने वाला समाधान या समन्वय उतना ही दृढ़ और समृद्ध होगा। मानव-चेतना का इतिहास मानो उन तत्त्वों की पृथक्कृत एवं सशक्त अवगति देता है, जो हमारे काल तक आते-आते अनिवार्य रूप में संकुल और सम्पृक्त हो चुके हैं। इस प्रकार की अवगति में हमें उन तत्त्वों का अधिक सचेत एवं अधिकारपूर्ण उपयोग करने की, नये सन्दर्भों में उनकी नियोजना करने की, क्षमता प्रदान करती है। इस प्रकार अतीत की विश्लिष्ट अवगति हमारी सृजन-शक्ति को दृढ़ता और प्रसार देती है।

ऐतिहासिक विकास की इस प्रक्रिया को हम एक दूसरी दृष्टि से देखें। प्रत्येक युग मानव-चेतना या व्यक्तित्व को एक सीमा तक समृद्ध करके छोड़ देता है। जिन तत्त्वों द्वारा उस चेतना या व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, उनके समस्त सम्भव संगठन या संव्यूहन उस युग के मनीषियों की रचनाओं में उपलब्ध हो जाते हैं। विभिन्न कोटियों के नायक-नायिकाओं की परिकल्पना या निर्माण में युग-विशेष के कलाकार अपने समय के सम्पूर्ण सौन्दर्य-बोध, अथवा संश्लिष्ट मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक-सामाजिक बोध को, चरितार्थ कर देते हैं। उदाहरण के लिए शकुन्तला-दुष्यन्त, इन्दुमती-अज, कादम्बरी-चन्द्रापीड़ तथा राम-सीता के व्यक्तित्वों एवं सम्बन्धों में भारत के स्वर्ण-युग का अशेष सौन्दर्य-बोध पुंजीभूत रूप में अभिव्यक्त है। यही बात होमर, शेक्सपीयर, टालस्टॉय आदि के पात्र-पात्रियों के बारे में सत्य है। यहाँ पाठक सौन्दर्य-बोध शब्द की संकीर्ण आदर्शवादी व्याख्या न लें; उसके अन्तर्गत युग-विशेष का असौन्दर्य एवं अनीति का बोध भी आ जाता है। रावण का व्यक्तित्व युग के सौन्दर्य-बोध की उसी हद तक अभिव्यक्ति है जिस हद तक राम का चरित्र। इस दृष्टि से दास्ताएव्स्की के असामान्य या विच्छिन्न व्यक्तित्व वाले पात्र भी अपने युग के सौन्दर्य-बोध के प्रतीक हैं।

हम कहना यह चाहते हैं कि मानव व्यक्तित्व या चेतना का निर्माण करने-वाले ये तत्व प्रायः एक युग से दूसरे युग में संक्रान्त होते जाते हैं; और प्रत्येक आने वाला युग उनकी जटिलता में वृद्धि कर देता है। बाद के युग में पूर्व युग के तत्व रहते हैं, पर उतने स्पष्ट रूप में नहीं जैसे कि वे विगत युग में थे। विगत युग-जीवन के ये तत्व अब भी व्यक्तियों का निर्माण करते हैं, पर कुछ भिन्न रूप में। जिस प्रकार आज के भौतिक-सामाजिक परिवेश में कालिदास का परिवेश समावेशित है, भले ही वह उस रूप में दिखाई न देता हो, उसी प्रकार आज भी मानव-चेतना में कालिदास के युग की मानव-चेतना समाई हुई है। यही कारण है कि हम आज भी 'शाकुन्तल' और 'मेघदूत' का रस ले सकते हैं। किन्तु आज यदि कालिदास स्वर्ग से उतर आएँ, तो वह दास्ता एव्स्की के 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ले सकेगा, इसमें सन्देह है। कारण यह है कि उक्त उपन्यास के नायक के व्यक्तित्व को निर्मित करने वाले सभी तत्वों से कालिदास का परिचय नहीं होगा; उसे उक्त नायक एक पहेली जान पड़ेगा। इसके विपरीत 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ठीक से वही पाठक ले सकता है जिसने अतीत का काफी साहित्य पढ़ा है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने यूरोपीय दर्शन का इतिहास नहीं पढ़ा है वह न रसेल को समझ सकता है, न विटगैन्स्टीन या हैडेगर को; वह व्यक्ति, बड़ी-से-बड़ी प्रतिभा रखते हुए भी, ऐसे किसी दर्शन का निर्माण नहीं कर सकता जो विश्व-दर्शन अथवा यूरोपीय दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण कड़ी बन सके। इसी प्रकार वह लेखक जो अतीत साहित्य में प्रतिष्ठित मानव-चेतना से सुपरिचित नहीं है, महत्त्वपूर्ण पात्रों अथवा साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरुषों की भाँति साहित्य के महत्त्वपूर्ण पात्र भी वही होते हैं, जो सचेत या अचेत भाव से, मानव-चेतना के विधायक असंख्य परम्परा-प्राप्त तत्त्वों को समेटते या ढोते चलते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का होरी एक साधारण नहीं, असाधारण पात्र है। वह और उसके साथी भारतीय सौन्दर्य-बोध की अनगिनत परम्पराओं के वाहक हैं। इसी से यह सचाई अनुगत होती है कि श्रेष्ठतम साहित्य के पात्र, निजी व्यक्तित्व से सम्पन्न होते हुए भी, 'टाइप' होते हैं; वे सौन्दर्य-बोध अथवा रागात्मक बोध की लम्बी, परिचित परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हमने अतीत साहित्य की व्यापक उपयोगिता पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया। संक्षेप में, तथाकथित 'क्लासिकल' साहित्य जीवन के उन तत्त्वों की चेतना का वहन करता है जिनकी उपयोगिता या सार्थकता आज भी अक्षुण्ण है। 'क्लासिकल साहित्य' के संरक्षण एवं अध्ययन का अर्थ रसात्मक-संवेदना

के उन रूपों का आकलन या उज्जीवन है, जो मानवता के चेतन, मूलक विकास के अंग एवं प्रतीक हैं। मानव-समाज का कोई सदस्य सिर्फ बीसवीं सदी में पैदा हो जाने से ही बुद्ध एवं कालिदास से श्लाध्यतर व्यक्तित्व वाला मनुष्य नहीं बन जाता; उनकी, उनके बाद के तथा अपने समकालीन अनेक महापुरुषों की सांस्कृतिक लब्धियों को आत्मसात् करके ही वह अपने व्यक्तित्व को अधिक सचेत एवं समृद्ध बना सकता है। इस दृष्टि से बीसवीं सदी के एक साधारण बुद्धि-जीवी का व्यक्तित्व अतीत के बड़े-से-बड़े लेखक-विचारकों की तुलना में अधिक जटिल तथा चेतनावान् हो सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—क्या कोई ऐसा अर्थ है जिसमें अतीत का साहित्यकार आज भी हमारा नियामक एवं पथ-प्रदर्शक बन सकता है ? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक लेखक और विचारक नई चेतना का विधायक होने के नाते हमारा शिक्षक होता है। मतलब यह कि शिक्षा केवल नैतिक ही नहीं होती। यदि शिक्षा का अर्थ नैतिक-राजनैतिक आदर्शों का प्रचार-मात्र हो तो कहना होगा कि न्यूटन तथा आइन्स्टाइन मानव-जाति के शिक्षक नहीं हैं। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक अर्थात् मानव-स्वभाव की रागात्मक सम्भावनाओं के उद्‌घाटक होने के नाते बिहारी एवं विद्यापति हमारे वैसे ही महत्त्वपूर्ण शिक्षक हैं जैसे कि वाल्मीकि और तुलसी। यही नहीं, इस दृष्टि से हम टॉल्स्टाय और शेक्सपीयर को तुलसी से बड़ा शिक्षक भी कह सकते हैं।

किन्तु प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है। समृद्ध, रसपूर्ण जीवन के लिए जहाँ कला और चिन्तन अपेक्षित हैं, वहाँ अच्छी समाज-व्यवस्था भी कम अपेक्षित नहीं। और अच्छी व्यवस्था का अर्थ है—नर-नारियों के सन्तुलित सम्बन्ध एवं व्यक्तियों का सन्तुलित, स्वस्थ जीवन। कलाकार इस प्रकार के जीवन एवं व्यवस्था की रूप-रेखा खड़ी करके जन-कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकता है। और चूँकि मानव-जीवन के लिए उपयोगी नैतिक नियन्त्रण तथा नैतिक-रागात्मक संवेदनाएँ युग-युग में करीब-करीब वही रही हैं उदाहरण के लिए संयम, निर्लोभता तथा त्याग की भावनाओं का प्रायः सार्वकालिक महत्त्व है—इसलिए अतीत के कलाकार आज भी श्रेष्ठ व्यवस्था एवं चरित्र की कल्पना में हमारी मदद कर सकते हैं। प्राचीन साहित्यकारों के जीवन-दर्शन एवं सिद्धान्त—जैसे पुनर्जन्म, ईश्वरवाद आदि से सम्बद्ध मन्तव्य—जहाँ पुराने पड़कर अग्राह्य हो जाते हैं, वहाँ उनकी कृतियों से मिलने वाली रसात्मक एवं नैतिक प्रेरणाएँ चिरकाल तक प्रभावपूर्ण बनी रहती हैं। यही नहीं, हमारी अवस्था है कि इस प्रकार की प्रेरणाएँ लम्बे-चौड़े जीवन-दर्शन से जितनी कम सम्पृक्त रहती

हैं, उतनी ही अधिक नैसर्गिक एवं स्थायी महत्त्व वाली जान पड़ती है, विशेषतः आगे आनेवाली पीढ़ियों को। इस दृष्टि से भी हम शेक्सपीयर तथा कालिदास को तुलसी से कम महत्त्व का शिक्षक नहीं कह सकेंगे। तुलसी की मान्यताओं में बहुत-सी ऐसी हैं जिन्हें आज हम भूल जाना चाहते हैं, जिनके भुलाए जाने में ही हमारा कल्याण है, ऐसी मान्यताएँ कालिदास और शेक्सपीयर में अपेक्षाकृत कम हैं। इसीलिये आज तुलसीदास जितने पुराने एवं मध्ययुगीन जान पड़ते हैं, वैसे कालिदास, भवभूति, वाल्मीकि और शेक्सपियर नहीं। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि अच्छे लेखक को किसी जीवन-दर्शन का कट्टर अनुयायी नहीं होना चाहिए।

: ४ :

प्राचीन साहित्य-शास्त्र की उपयोगिता

प्राचीन साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र की उपयोगिता की चर्चा एक व्यापक सन्दर्भ में भी की जा सकती है, और अपेक्षाकृत संकीर्ण परिधि में भी। व्यापक परिधि में 'प्राचीन' के बदले 'अतीत' शब्द रखा जा सकता है। हम अतीत के साहित्य-शास्त्रियों (अथवा साहित्यकारों, विचारकों, आदि) को क्यों पढ़ें? प्रस्तुत निबन्ध में हमें इस व्यापक प्रश्न पर विचार नहीं करना है। यहाँ हम 'प्राचीन' का अर्थ 'क्लासिकल' लेंगे। हमारा तात्पर्य उन साहित्य-मीमांसकों से है, जिन्होंने अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन 'क्लासिकल' संस्कृत-साहित्य की कृतियों के आधार पर किया।

पहले हम यह स्पष्ट करें कि इस प्रकार के प्रश्न को उठाने की आवश्यकता क्या है। आज हम अक्सर यह शिकायत सुनते हैं कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अच्छे समीक्षकों की कमी है। यदि इस कथन का प्रमाण देना अपेक्षित हो तो हम कहेंगे—हिन्दी के समीक्षा-साहित्य से शुक्ल जी की कृतियों को निकाल देने की कल्पना कीजिए और देखिए कि उस साहित्य में कितनी बड़ी रिक्तता हो जाती है। शुक्ल जी के अतिरिक्त यदि हम उनसे निम्न-तर श्रेणी के चार-छः समीक्षकों की कृतियाँ निकाल दें, तो शायद हिन्दी में आलोचना-साहित्य के नाम पर प्रायः कुछ भी नहीं रह जायगा। कुछ लोग शायद इस चार-छः की संख्या के बदले एक दर्जन कहना चाहें, किन्तु उस दशा में हम उन समीक्षकों की भी गणना कर रहे होंगे जिन्होंने न तो कोई स्वतन्त्र चिन्तन किया है, और न आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन का प्रयत्न ही।

ऊपर के तथ्यों के साथ ही हमें एक दूसरी चीज पर गौर करना है। हिन्दी-भाषा के विशाल क्षेत्र में कम-से-कम एक दर्जन विश्व-विद्यालय तथा बीसियों डिग्री कालेज हैं। इन संस्थाओं के सभी अध्यापक एम. ए. की डिग्री पाये हुए रहते हैं, और उन में काफी संख्या में डॉक्टर भी हैं। प्रायः ये सभी अध्यापक

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के मुख्य सिद्धान्तों से परिचित रहते हैं। प्राचीन साहित्य-शास्त्र के इतने जानकारों के रहते हुए यदि यह कहा जाय कि हिन्दी में अच्छे समीक्षकों की कमी है, तो इसका यह अर्थ होगा कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र का परिज्ञान किसी व्यक्ति को अच्छा समीक्षक बनाने में असमर्थ है। इस स्थिति से कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिए 'क्लासिकल' साहित्य-शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित नहीं है। दूसरा निष्कर्ष इससे भी खराब हो सकता है, वह यह कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र का अध्ययन श्रेष्ठ समीक्षक बनने में बाधक है। तीसरा सम्भव निष्कर्ष यह है कि उच्च कोटि का आलोचक बनने के लिए 'क्लासिकल' साहित्य-शास्त्र का अध्ययन काफ़ी नहीं है।

सम्भवतः उक्त तीन निष्कर्षों में अन्तिम सबसे अधिक सचाई के निकट है। किन्तु सिर्फ इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेने से यह समझ में नहीं आ सकता कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र किस अर्थ में, एवं किस प्रक्रिया से, हमारी समीक्षा-बुद्धि को विकसित अथवा पुष्ट करता है। इस समस्या पर विचार करते हुए हम पाठकों से एक यह नम्र निवेदन कर दें कि प्रस्तुत लेखक को प्राचीन साहित्य-शास्त्र की गहरी जानकारी का बिलकुल ही दावा नहीं है।

: २ :

साहित्य-शास्त्र का सामान्य प्रयोजन

आलोचना रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या है। आलोचक विश्लेषण करता है; वह हमारे मस्तिष्क में उन तत्त्वों की विश्लिष्ट चेतना उत्पन्न करता है जो किसी साहित्यिक कृति अथवा उसके किसी अंश को रसमय या नीरस बनाते हैं। काव्य की विशेषताओं को सामान्य नाम देने का अर्थात् सामान्य रूप में प्रकट करने का नाम ही साहित्य-शास्त्र है।

एक समझदार पाठक की दृष्टि से आलोचना एवं साहित्य-शास्त्र दोनों का उपयोग यह है कि वह उनकी मदद से अच्छे-बुरे साहित्य के विधायक तत्त्वों की सचेत अवगति प्राप्त करे। इस क्रिया द्वारा साहित्य का रस-ग्रहण एक अन्ध व्यापार न रहकर चेतना-मूलक व्यापार बन जाता है। आलोचना-शास्त्र की जानकारी रखने वाला पाठक अधिक सचेत भाव से साहित्य का रस लेता है, और विभिन्न कृतियों के सौष्ठव में विवेक करना सीखता है। स्वयं लेखकों के लिए भी आलोचना तथा साहित्य-शास्त्र का कम महत्व नहीं है। साहित्यिक सौन्दर्य के विधायक तत्त्वों की विश्लिष्ट चेतना द्वारा वे उन तत्त्वों का सचेत उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करते हैं।

किन्तु साहित्य-शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है हमारी रस-संवेदना का शिक्षण एवं परिष्कार। प्रत्येक प्रकार की साहित्यिक विचारणा का आधार साहित्यकारों की विद्यमान कृतियाँ होती हैं। उन कृतियों में से ही साहित्य-मीमांसक अपने उदाहरण चुनते हैं। इस प्रकार साहित्य के विचारक हमें इस बात का मौका देते हैं कि हम श्रेष्ठ कृतियों की कतिपय विशेषताओं को ज्यादा अवधान से देखें। इस दृष्टि से पढ़ा हुआ साहित्य-शास्त्र काव्य के मर्मस्थलों से निकट परिचय स्थापित करने का उपकरण बन सकता है। प्राचीन साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों को, विशेषतः उनके अलंकार-प्रकरणों को, प्रस्तुत लेखक प्रायः इसी लोभ से पढ़ता है कि वहाँ काव्य-रचना के चुने हुए उदाहरण सुलभ रूप में मिल जाते हैं।

इसके विपरीत अधिकांश पाठक, जिनमें प्रधानतया वे ही लोग होते हैं जो आलोचक बनने की धुन में हैं, साहित्य-शास्त्र को इस उद्देश्य से पढ़ते हैं कि वे शीघ्रता से कुछ ऐसे सूत्रों को पा जायँ जिनकी मदद से वे जल्दी-से-जल्दी साहित्य के निर्णायकों की पंक्ति में स्थान पा जायँ। ऐसे पाठकों का लक्ष्य साहित्य का अधिक रस लेना, अथवा रस लेने की क्षमता उत्पन्न करना, उतना नहीं होता जितना कि एक प्रकार की शक्ति या अस्त्रों का संचय कर लेना। वे लोग स्वयं अपने शिक्षण अथवा 'डिसिप्लिन' के लिए नहीं, अपितु लेखक-वर्ग पर हुकूमत या शासन करने के लिए, साहित्य-शास्त्र पढ़ते हैं। और क्योंकि साहित्य-शास्त्र का परिज्ञान काफी मेहनत से होता है, इसलिए उनमें स्वभावतः यह धारणा उत्पन्न हो जाती है कि उन्होंने साहित्यिक सिद्धान्तों के रूप में किसी बहुत बड़ी चीज को हस्तगत कर लिया है। इस प्रकार के आलोचक-अध्येताओं में ऐसे कम ही होते हैं जो स्वयं साहित्य के अध्ययन में गहरा चाव रखते हों और उसके द्वारा अपनी रस-संवेदना का निरन्तर परिष्कार करते रहते हों। इन शक्ति-लिप्सु आलोचक-पाठकों में प्रायः जिज्ञासा-वृत्ति भी तीव्र नहीं होती। फलतः वे इसका प्रयत्न भी नहीं करते कि बाद के अध्ययन द्वारा साहित्य-शास्त्रियों के बताये हुए सिद्धान्त-सूत्रों की परीक्षा करने का प्रयत्न करें। किन्तु जो साहित्य के प्रकृत विचारक होते हैं वे साहित्य-शास्त्र को प्रायः लगातार अपने अध्ययन द्वारा आँकते हैं।

साहित्य के स्वतन्त्र विचारक को कुछ और भी करना पड़ता है। उसे देखना होता है कि विशिष्ट प्राचीन विचारक ने काव्य-सौष्ठव के उपादानों को कहाँ तक ठीक से देखा और वर्गीकृत किया है। दूसरे, वह यह निश्चय करने का प्रयत्न करता है कि साहित्य-मीमांसकों द्वारा दिये गए सिद्धान्त-सूत्र कहाँ

तक अनुभूत साहित्यिक विशेषताओं की सन्तोषप्रद व्याख्या कर पाते हैं। एक वस्तुतः मौलिक विचारक साहित्यिक सौष्ठव के उपादनों को अपनी निजी दृष्टि से देखने तथा समझने का प्रयास करता है।

: ३ :

प्राचीन साहित्य-शास्त्र

संस्कृत-साहित्य का स्थान विश्व के चार-छः विकसित साहित्यों के साथ है। प्राचीन साहित्यों में यूनानी साहित्य का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाद के साहित्यों में तो अँग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मन आदि साहित्यों का भी नाम लिया जा सकता है। ये सभी साहित्य सम्पूर्ण अर्थ में प्रौढ़ साहित्य हैं। यह प्रौढ़ता से तात्पर्य दो चीजों से है : एक अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता, दूसरे अभिव्यक्त संवेदना की प्रौढ़ता। दोनों दृष्टियों से प्रौढ़ साहित्य एक सुसंस्कृत, स्वतन्त्र जाति द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है। संस्कृत-साहित्य के निर्माता इसी प्रकार की सभ्य एवं संस्कृत जातीय चेतना के प्रतिनिधि थे, इसीलिए संस्कृत का 'क्लासिकल' साहित्य पूर्ण अर्थ में प्रौढ़ साहित्य बन सका है। इसके विपरीत हिन्दी-साहित्य में—जिसके प्रतिनिधि कवि विद्यापति, जायसी, सूर, तुलसी और बिहारीलाल हैं—अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता तो है, किंतु जीवन-संवेदना की परिपूर्णता एवं परिपक्वता नहीं है। हिन्दी के साहित्यकों ने अपने लम्बे इतिहास में मौलिक काव्य-शास्त्र का सृजन नहीं किया; उनकी नीति तथा जीवन-विवेक भी प्राचीन विचारकों से ग्रहण किया गया है। जीवन-संवेदना की दृष्टि से संस्कृत-काव्य की तुलना में हिन्दी-साहित्य एकांगी अथच अस्वस्थ सीमा तक धार्मिक अथवा परलोक-परायण है।

हम यह कहना चाह रहे हैं कि क्योंकि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र एक नितान्त प्रौढ़ साहित्यिक परम्परा के विश्लेषण पर आधारित है, इसलिए उसका अध्ययन रस-संवेदना के परिष्कार एवं चिन्तन की योग्यता के सम्पादन, दोनों दृष्टियों से विशेष उपयोगी होना चाहिए। किंतु किसी अध्येता में इस उपयोगिता का पूर्ण प्रतिफलन तभी हो सकता है, जब वह संस्कृत काव्य-शास्त्र का अध्ययन संस्कृत-ग्रन्थों के उदाहरणों के सम्पर्क में ही करे। कुछ आगे चलकर हम इस मन्तव्य को उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे।

यहाँ संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की कुछ सीमाओं का निर्देश करना भी आवश्यक है। ये सीमाएँ कुछ हद तक उस जीवन की सीमाओं से सम्बन्धित हैं जिनकी अभिव्यक्ति संस्कृत-साहित्य में हुई है। यूरोप, विशेषतः आधुनिक यूरोप की और प्राचीन यूनान की भी तुलना में भारतीय जीवन-धारा की प्रगति मन्थर

रही है। हमारे इतिहास में फ्रांस तथा रूस जैसी राजनीतिक-आर्थिक क्रान्तियाँ प्रायः कभी नहीं हुईं; राजनीतिक उथल-पुथल के नाम पर यहाँ शासन-प्रणालियों का नहीं, शासक व्यक्तियों अथवा वंशों का ही परिवर्तन होता रहा। विश्वासियों एवं अनुयायियों के इस देश में विचारगत क्रान्तियाँ भी कम ही हुई हैं। वस्तुतः हमारी समन्वयवाद की 'स्पिरिट' क्रांतिकारी उथल-पुथल की विरोधी रही है। यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य शास्त्र में हम समाज-शास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक आलोचना जैसी चीज को उगते हुए नहीं पाते। संस्कृत-साहित्य-मीमांसक साधारण तौर पर यह जानते थे कि काव्य नैतिक जीवन को प्रभावित करता है, किंतु इस प्रभाव की गहराई एवं विस्तार की ठीक चेतना उन्हें नहीं थी। न वे यही समझते थे कि साहित्य का अपने देश-काल से आवश्यक लगाव होता है। सच पूछिये तो उनका समग्र साहित्यिक चिन्तन इस मान्यता पर अवलम्बित है कि मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन युग-युग में प्रायः वही बना रहता है। उनके मस्तिष्क में यह बात भी कभी आई नहीं आई कि जीवन-मूल्यों के निर्धारण में शास्त्रवेत्ता धर्माचार्यों एवं दार्शनिकों के अतिरिक्त साहित्यकारों का भी हाथ हो सकता है। यदि कोई प्राचीन साहित्य-मीमांसक आज आकर कविवर माइकेल मधुसूदनदत्त का 'मेघनाद वध'—जिसमें राम को नहीं, रावण को श्रेष्ठ घोषित किया गया है—पढ़े, तो उसे आश्चर्य और क्षोभ से सिर पीटकर रह जाना पड़े।

संक्षेप में, संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों को यह चेतना नहीं है कि साहित्यगत मूल्य युग-जीवन से भी निर्धारित या सम्बद्ध होते हैं। न उन्हें यही अवगति है कि एक महान् कलाकार किसी जाति या युग के समूचे जीवन की सम्भावनाओं का उद्घाटन या निरूपण करता है। फलतः जब कभी ये विचारक दो कवियों की तुलना करने बैठते हैं तो उनकी अभि-व्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त दूसरी चीजें प्रायः बिलकुल ही नहीं देख पाते। संस्कृत के किसी साहित्य-मीमांसक में आपको इस चेतना का आभास नहीं मिलेगा कि माघ अथवा श्रीहर्ष से कालिदास इसलिए श्रेष्ठतर हैं कि उन्होंने भारतीय जीवन एवं संस्कृति को अधिक समग्रता में उद्घाटित या चित्रित किया है।

इस आलोचना से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है : यह जरूरी नहीं कि एक महान् कलाकार का पूर्ण मूल्यांकन उसके समय में हो जाय। किसी भी समुन्नत युग की श्रेष्ठ कला-कृति जितनी पूर्ण होती है, यह

आवश्यक नहीं कि उस युग का साहित्य-शास्त्र उतना ही पूर्ण हो। किसी भी युग में जीवन को समझने के प्रयत्न जीवन की समग्र जटिलता को पूर्णतया विश्लेषित करके समझ लें, यह जरूरी नहीं है। यही कारण है कि आज का श्रेष्ठ आलोचक कालिदास पर जितना सुन्दर समीक्षा-ग्रंथ लिख सकता है, वैसा प्राचीन काल के किसी आचार्य के लिए सम्भव नहीं था। वस्तुतः प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने जहाँ काव्य को रस तथा अलंकारों की कसौटियों पर कसने का प्रयत्न किया, वहाँ उसे जीवन की जटिलताओं से सुसम्बद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। कारण यह था कि उन युगों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आज-जैसी क्रान्तियाँ नहीं होती थीं। अतएव, जीवन के स्थिर पहलुओं की अभिव्यक्ति में कोई विशेष ध्यान देने योग्य चीज़ न पाकर, प्राचीन साहित्य-शास्त्री अभिव्यक्तिगत निरालेपन—वक्रोक्ति तथा अलंकारों—को समझने का विशेष प्रयत्न करते रहे।

: ४ :

रस-निरूपण के अतिरिक्त भारत के प्राचीन साहित्याचार्यों ने काव्याभिव्यक्ति के गुण-दोषों का जैसा विशद विवेचन किया है, वैसा अन्य किसी देश में मिलना कठिन है। भारतीय साहित्य-मीमांसक की दृष्टि में जीवन के विभिन्न पक्ष समान रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति के विषय थे; रसों की विभिन्नता इसी तथ्य का स्वीकरण है। वहाँ भी शृङ्गार-रस की प्रधानता इसकी द्योतक है कि प्राचीन काल में साहित्य मुख्यतः आनन्द के लिए लिखा और पढ़ा जाता था। नाटक की विशिष्ट महत्ता का भी यही रहस्य है। आज के युग में नाटक साहित्य का उतना महत्त्वपूर्ण अंग नहीं रह गया है—क्योंकि वर्तमान जीवन की गहन जटिलता रंगमंच पर अभिनय द्वारा प्रदर्शनीय नहीं है। उस समय साहित्य पर राज्य का नियन्त्रण नहीं था, और न साहित्य में किसी ऐसे संघर्ष का चित्रण ही रहता था जो राज-शक्ति के लिए ख़तरनाक हो। इसलिए साहित्य के विचारक, काव्य में अभिव्यक्ति पाने वाले जीवन की ओर से निश्चिन्त होकर, उस अभिव्यक्ति की पूर्णता के विधायक तत्त्वों की ओर विशेष ध्यान दे सके। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि उस युग के श्रेष्ठ साहित्यकार, साहित्यशास्त्रीय विश्लेषण से पहले ही, वैसी पूर्णता को प्राप्त कर चुके थे। अपनी इस अभिव्यक्तिगत पूर्णता के कारण ही प्राचीन 'क्लासिकल' साहित्य आगे आने वाले युगों के लिए चिरन्तन आदर्श बना रहा है।

हम यह नहीं मानते कि प्राचीन विचारकों ने अभिव्यक्तिगत पूर्णता का जो विश्लेषण किया है, उसके उपादानों या उपकरणों की जो व्याख्या की है,

वह अन्तिम या पूर्णतया सही है; किन्तु हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस पूर्णता की जैसी चेतना प्राचीन साहित्यकारों एवं साहित्य-शास्त्रियों में थी वैसी आज के लेखकों तथा विचारकों में (विशेषतः अपने देश में) नहीं है। यही कारण है कि आज के लेखकों की नई-से-नई अनुभूति, उनकी नई-से नई दृष्टि का प्रतिपादन,सशक्त एवं सप्राण अभिव्यक्ति के अभाव में प्रभावहीन बनकर विस्मृत हो जाता है। इस दृष्टि से छायावाद की श्रेष्ठतम रचनाएँ 'बिहारी की सतसई' की कठिनता से होड़ ले सकती हैं; प्रगतिवादी काव्य की स्थिति तो और भी खराब है।

हमारे मतानुसार काव्य-साहित्य में अभिव्यक्तिगत पूर्णता की प्रतिष्ठा वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त जीवन-स्पन्दन स्पष्ट एवं प्रभविष्णु रूप ले पाता है। निबद्ध अनुभूति के अनुरूप ही अभिव्यक्ति की भाषा मधुर अथवा कर्कश, रसाकुल अथवा बौद्धिक, चित्रमयी अथवा भावना-प्रदान, तरह-तरह की हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने अनेकानेक नियमों-उपनियमों का संकेत किया है, किन्तु मुख्य चीज है उनकी वह अन्तर्दृष्टि, जो न्यूनाधिक पूर्ण अभिव्यक्तियों के सूक्ष्म अन्तर को बिना सन्देह के देख और पकड़ लेती है।

केवल एक उदाहरण से हम प्राचीन साहित्य-शास्त्र की इस महत्त्वपूर्ण लब्धि का आभास देंगे। 'काव्यालंकार-सूत्र तथा उसकी वृत्ति' के लेखक वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। यह रीति विशेष प्रकार की, अथवा विशिष्ट गुणों वाली, पद-योजना है। इन गुणों का शब्द तथा अर्थ दोनों से सम्बन्ध होता है। वामन का विचार है कि कालिदास के निम्न श्लोक में 'वैदर्भी' रीति है, जिसका मतलब है कि उसमें काव्य-सौन्दर्य के विधायक अशेष गुण पाये जाते हैं। श्लोक निम्नलिखित है :

गाहन्तां महिषा निपान-सलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्।
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु॥
विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले।
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥

यह पद्य 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का है। अर्थ सीधा है : शकुन्तला में अनुराग हो जाने के बाद दुष्यन्त मृगया के कठोर कर्म को बन्द करके त्रासहीन, शान्त वातावरण के उत्पन्न होने की कामना करता है—"बार-बार अपने सींगों से ताड़ित करती हुई भैंसें अब निःशंक पोखर के जल में किलोल करें; छाया में झुण्ड बनाकर बैठे हुए हिरण जुगाली करें; विश्वस्त भाव से वराहों के सरदार

जल में प्रविष्ट होकर मुस्ता (एक प्रकार की घास) का उत्खनन करें; और हमारा यह धनुष भी, डोरी के बन्धन को शिथिल करके, विश्राम-लाभ करे।"

वामन के एक प्रसिद्ध टीकाकार का मत है कि उक्त पद्य में ओज, प्रसाद तथा माधुर्यगुण अपनी परिपूर्णता मे विद्यमान है। इसी प्रकार समता, सौकुमार्य, उदारता, कान्ति, अर्थव्यक्ति आदि गुण भी उसमें उपस्थित हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार उक्त श्लोक में ही नहीं, कालिदास की प्रायः समस्त रचनाओं मे, 'वैदर्भी' रीति का पूर्ण निर्वाह किया गया है। हम नही जानते कि आज के प्रगतिवादी, क्रान्तिवादी, प्रयोगवादी, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षक कालिदास की उक्त विशेषता अथवा वामन की उक्त प्रशंसा का क्या अर्थ लगायेंगे और उस विशेषता या प्रशंसा को अपने अभिमत सिद्धान्तों की भाषा में किस प्रकार प्रकट करेंगे; किन्तु यह निश्चित है कि कोई भी रसज्ञ पाठक अथवा जिम्मेवार आलोचक कालिदास के कृतित्व के इस पहलू की उपेक्षा नहीं कर सकता। और समकालीन आलोचकों के प्रभाव में, जो लेखक अभिव्यक्ति के उक्त गुणों की उपेक्षा करता है, वह विश्व-साहित्य को कोई स्थायी चीज दे सकता है, इसमें सन्देह है।

हम यह कहना चाहते है कि 'क्लासिकल' साहित्य के विश्लेषकों ने आकुलताहीन अवकाश के उस युग में पूर्ण अभिव्यक्ति की जिन विशेषताओं का साक्षात्कार किया था उसकी चेतना प्राप्त करना हमारे अपरिपक्व साहित्य के अर्धविकसित लेखकों के लिए नितान्त आवश्यक है। हमारे समीक्षकों के लिए भी, जो आजकल विभिन्न वादों और सिद्धान्तों से आक्रान्त एवं आतंकित हैं, यह कम आवश्यक नहीं है कि वे साम्प्रदायिक लेखकों से, अनुभूति की दिशा एवं क्षेत्र से भिन्न, उसकी उस सचाई एवं परिपक्वता की मांग करें जो अभिव्यक्तिगत पूर्णता में प्रतिफलित होती है।

आज स्थिति यह है कि वे आलोचक, जो अभिव्यक्ति की जरूरतों से परिचित हैं, लेखकों को नये अनुभव-क्षेत्रों के उद्घाटन तथा प्रकाशन की छूट नहीं देना चाहते—वे चाहते है कि नवीन लेखक बनी-बनाई लीकों पर चलते हुए घिसे हुए, पुराने विषयों पर लिखते रहें; इसके विपरीत नवीनतावादी आलोचक, जिनमें अधिकांश 'क्लासिकल' साहित्य के अभिव्यक्तिगत सौष्ठव से अपरिचित हैं, केवल अनुभूति के विशिष्ट रूपों, क्षेत्रों एवं दिशाओं की ही मांग करते हैं और इसकी परवाह नहीं करते कि उनके अभिमत लेखक कहाँ तक अपने कृतित्व को प्रौढ़ता के धरातल पर ले जा सके है। ये दोनों ही प्रकार के आलोचक हमारी साहित्य-सृष्टि के सफल अभियान के लिए खतरनाक हैं। सब प्रकार का अर्ध-

सत्य खतरनाक होता है; आलोचक का अर्ध-सत्य स्रष्टा के अर्ध-सत्य से कहीं अधिक हानिकर और संकटावह बन जाता है। बात यह है कि समीक्षक मानवीय संस्कृति के मानों का संरक्षक है; एकांगी होकर वह विशिष्ट क्षेत्र में जितना अहित कर सकता है, उतना एकांगी साहित्यकार नहीं। साहित्यकार का काम, शायद, केवल अपने युग की चेतना से चल जाय, किन्तु समीक्षक के लिए यह अनिवार्य है कि वह युग-युग की उच्च सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों से सुपरिचित हो।

: ५ :

अतिरिक्त टिप्पणी

वामन, जिसे 'वैदर्भी' रीति कहता है उसके अंगभूत गुणों की व्याख्या करने का उसने सतर्क प्रयत्न किया है। टीकाकारों ने समझाया है कि किस प्रकार कालिदास के उद्धृत पद्य में विभिन्न गुणों की स्थिति है। विस्तार के भय से हमें इन नितान्त रोचक विवरणों को छोड़ देना पड़ा है। कहीं-कहीं लगता है कि वामन द्वारा कथित काव्य-गुण परस्पर विरोधी हैं, जैसे—पदों की सघन या समासयुक्त योजना ओज गुण है और शिथिल योजना प्रसाद गुण है। वामन ने इस आपत्ति का निराकरण करने की कोशिश की है; किन्तु, शायद, सफल नहीं हुआ है। पाठकों को हम फिर स्मरण दिलाएँ—महत्त्व की बात यह जानना उतना नहीं है कि वामन ने अभिव्यक्तिगत पूर्णता का किस प्रकार विश्लेषण या व्याख्या की है; ज्यादा महत्त्व की बात है इस पूर्णता के विभिन्न स्तरों की चेतना होना। 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में जगह-जगह इस चेतना के उल्लेखनीय निदर्शन हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न शब्द-गुणों की व्याख्या करते हुए वामन ने बतलाया है कि नियोजित पदावली के थोड़े हेर-फेर से किस प्रकार अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में कमी-बेशी हो जाती है। यथा :

(१) 'भ्रमरी मंजु गीतयः' में श्लेष गुण है; 'भ्रमरी वल्गु गीतयः' में नहीं है।

(२) 'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां, झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलञ्च' में उदारता गुण की अवस्थिति है; 'चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीनां, झटिति रणितमासीन्मंजु चित्रं च तत्र' में नहीं।

काव्य-सौष्ठव के स्तरों के इस सूक्ष्म अन्तर को हृदयंगम करने के लिए विकसित संवेदना की अपेक्षा है। शायद कुछ पाठक समझें कि इस प्रकार का भेद-निरूपण कोरा पाण्डित्य-प्रदर्शन है और प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों का खामखयालीपन-मात्र है। बात ऐसी नहीं है। आधुनिक काल के अन्यतम कवि-समीक्षक टी० एस० इलियट ने शेक्सपियर, क्रिस्टोफर मॉरलो आदि की तुलना

करते हुए उनकी समान दीखने वाली पंक्तियों में अन्तर देखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार का अन्तर देखने, महसूस करने की क्षमता उच्चकोटि की काव्य-रचना और उसके मूल्यांकन दोनों के लिए जरूरी है। हिन्दी में इस क्षमता के अभाव का एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन प्रसाद का 'कामायनी' काव्य और उसकी स्तुतिमूलक समीक्षाएँ हैं।

अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता अन्ततः अनुभूति की प्रौढ़ता का प्रतिफलन-मात्र है। कवि किसी भी जीवन-दर्शन को मानने वाला क्यों न हो—चाहे वह ईश्वरवादी हो अथवा नास्तिक, भौतिकवादी हो अथवा संशयवादी—उसे कभी भी कलात्मक महत्त्व के उक्त पैमाने की अवहेलना का अधिकार नहीं मिल सकता। किसी भी वाद या जीवन-दर्शन की परिधि में एक लेखक प्रौढ़-संवेदना-सम्पन्न भी हो सकता है और अप्रौढ़ या अपरिपक्व भी। समीक्षा का एक प्रमुख कार्य यह है कि वह लेखक-विशेष के कृतित्व की पूर्णता अथवा परिपक्वता की जाँच करे। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से, अर्थात् हिन्दी समीक्षा के जन्म-काल से ही, हमारे समीक्षक ठीक यही काम नहीं करते रहे हैं। जीवन-दर्शन पर गौरव देने की झोंक में वे यह पूछना भूलते रहे हैं कि विशिष्ट जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति 'अण्डर-ग्रेजुएट' धरातल पर हो रही है, अथवा विश्व के श्रेष्ठतम मनीषियों की चेतना एवं रस-संवेदना के धरातल पर। 'कामायनी' आदि में निबद्ध दार्शनिक विचारों की अतिशय प्रशंसा के रूप में हमारी समीक्षा की यह अप्रौढ़ता निःसंकोच स्पष्टता से प्रकाशित होती रही है।

: ५ :

प्रगति और परम्परा

मनुष्य तथा दूसरे जीवों में अनेक अन्तर हैं। उनमें एक मुख्य अन्तर यह है कि मनुष्य संकेतमयी भाषा का प्रयोग करता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने ज्ञान और अनुभव को न सिर्फ संचित ही कर लेता है बल्कि दूसरों तक पहुँचा भी देता है। महात्मा बुद्ध तथा गाँधी जी ने जीवन की नैतिक गुत्थियों के सम्बन्ध में जो-कुछ सोचा था वह हमें आज भी उनकी लिखित रचनाओं अथवा दूसरों द्वारा संगृहीत उपदेशों के रूप में उपलब्ध है। अतीत की इसप्रकार की महत्वपूर्ण धरोहर को परम्परा कहते हैं। सभ्य देशों के अधिवासी सदा से इस प्रकार की परम्परा से प्रभावित होते तथा उस में गर्व का अनुभव करते आये हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेज जाति को शेक्सपीयर एवं न्यूटन पर गर्व है, तो जर्मन लोगों को गेटे, कान्ट और हीगल पर। इसी प्रकार भारतवासियों को अपने कालिदास, कुमारिल, शंकर आदि मनीषियों अथवा उनकी कृतियों पर गर्व का अनुभव होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मूल्यवान परम्परा एक वांछनीय वस्तु है।

किन्तु उक्त स्थिति का एक दूसरा पहलू भी है। परम्परा कभी-कभी किसी जाति को इतना जकड़ कर बाँध लेती है कि उस जाति के लिए नये युग की जरूरतों के अनुसार बदलना कठिन हो जाता है। आज का युग अनवरत घटित होने वाले परिवर्तनों का युग है। आज हम विद्रोह और क्रान्ति वांछनीय मानते हैं, तथा विद्रोही अथवा क्रान्तिकारी होना महत्व अथवा श्रेष्ठता का द्योतक समझा जाता है। यही नहीं, प्राचीन रूढ़ियों पर चलने वालों को आज सन्देह एवं अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाता है और लोक में 'परम्परावादी' अथवा 'रूढ़िवादी' होना हीनता का परिचायक माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि परम्परा एवं विद्रोह की मर्यादायें क्या हैं, और दोनों में किसे कितना महत्व मिलना चाहिए। क्या प्राचीन महापुरुषों के सिद्धान्तों एवं उपदेशों को नम्रता एवं श्रद्धा के साथ स्वीकार कर लेना चाहिए?

अथवा परिवर्तन, विद्रोह एवं नवीनता को ही प्रगति का पर्याय समझना चाहिए ? क्या प्रगति और परम्परा एक दूसरे के विरोधी तत्व है ? अथवा उनमें सामंजस्य की सम्भावना भी है ? साहित्य के क्षेत्र मे ये प्रश्न निम्न रूप लेते दिखाई देते हैं। क्या साहित्यकार को उन्हीं विषयों एवं शैलियों का आश्रय लेना चाहिए जिनका उपयोग अतीत के साहित्यकारों ने किया है ? अथवा उन्हें नयी शैलियों मे नये विषयों पर रचना करने का भी अधिकार है ? क्या नये साहित्यकारों के लिए पुराने साहित्य का कोई उपयोग होता है ? क्या साहित्यक उन्नति का अर्थ प्राचीन का परित्याग और नवीन का ग्रहण ही है ? क्या आज के पाठकों, आलोचकों एवं साहित्यकारों के लिए ये जरूरी है कि वे पुराने साहित्य का अनुशीलन करें ?

इन प्रश्नों का ठीक उत्तर पाने के लिए हमें साहित्य तथा दूसरे सांस्कृतिक प्रयत्नों के स्वरूप पर अन्तरंग दृष्टि डालनी पड़ेगी। अन्ततः संस्कृति कहते किसे हैं, और उसके विभिन्न रूपों एवं अभिव्यक्तियों का मानव-जीवन के लिए उपयोग क्या है ? हमारी समझ में संस्कृति शब्द उन क्रियाओं, अनुभूतियों अथवा प्रयत्नों का द्योतक है जिनके द्वारा मनुष्य महत्वपूर्ण यथार्थ की सजग चेतना प्राप्त करता है और जिनके द्वारा उसका जीवन अधिक समृद्ध अथवा सृजनशील बनता है। दर्शन, विज्ञान तथा कला विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्य की चेतना का विस्तार करते हैं। चेतना का ही दूसरा नाम ज्ञान या अवगति है। किसी वास्तविकता के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके हम उस वास्तविकता पर नियन्त्रण करना सीखते हैं। उदाहरण के लिए भौतिक विज्ञान द्वारा जड़-प्रकृति का ज्ञान और उस पर नियंत्रण प्राप्त होता है। यों तो प्राकृतिक शक्तियाँ स्वतः ही सदैव कुछ-न-कुछ करती ही रहती हैं। किन्तु उनके नियमों की चेतना प्राप्त करके मनुष्य उन्हें नये अपने अनुकूल रूपों में ढालने लगता है जिससे उसकी सभ्यता का उदय और विकास होता है। भौतिक शक्तियों का उपयोग मनुष्य व्यावहारिक धरातल पर करता है, किन्तु काव्य-साहित्य में वह जिन वास्तविकताओं की चेतना संचित करता है उनका उपयोग मुख्यतः सृजनात्मक, सचेत आनन्द के लिए होता है। एक चित्रकार रेखाओं के अभिनव संगठन द्वारा नवीन रूपों की सृष्टि करता है, किसलिए ? इसलिए कि उस संगठन के द्वारा वह अपनी सृजन-वृत्ति को चरितार्थ करके अभूतपूर्व आनन्द प्राप्त करता है। कलात्मक सृष्टि के मूल में मुख्यतः यही सृजनात्मक प्रेरणा रहती है।

एक और बात भी है। हमने कहा कि विज्ञान और कला दोनों ही में चेतना अथवा ज्ञान का संचय मुख्यतः नये निर्माण के लिए होता है। किन्तु

यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य में चेतना की अपेक्षा निर्माण की आकांक्षा अधिक प्रबल है। वस्तुतः मनुष्य चेतना की खोज स्वयं चेतना के लिए भी करता है। और जब वह निर्माण करने बैठता है तो उस व्यापार में चेतना के समस्त तत्वों का उपयोग कर डालना चाहता है। एक ओर मनुष्य चेतना-लाभ के किसी अवसर या उपादान को नहीं छोड़ना चाहता, दूसरी ओर वह अपने निर्माण में चेतना के समस्त उपकरणों का नियोजन कर लेना चाहता है। वस्तुतः विज्ञान, दर्शन और कला में भी यह कहना कठिन हो जाता कि विचारक अथवा कलाकार की चेतना निर्माण के लिए है, या निर्माण चेतना के लिए। यह प्रसिद्ध बात है कि महान वैज्ञानिक आविष्कारों अथवा व्यावहारिक लाभ या उपयोगिता के लिए अनुसंधान नहीं करते। वैज्ञानिक तरह-तरह के प्रयोग एवं स्थापनायें करता है, इसलिए नहीं कि वह प्रकृति पर नियंत्रण करना चाहता है, बल्कि इसलिए कि वह इस नाना-रूप विश्व का, गणित के प्रतीकों में, सम्पूर्ण विवरण अथवा चित्र उपस्थित कर देना चाहता है। एक ओर प्रयोगात्मक तथ्यों को व्यवस्थित अथवा सम्बद्ध करने की चेष्टा में वैज्ञानिक अपनी कल्पना का सृजनात्मक उपयोग करता है—स्थापनाओं की स्वच्छन्द सृष्टि करता है, दूसरी ओर वह यह कामना रखता है कि उसकी यह सृष्टि वास्तविकता का सच्चा चित्र प्रमाणित हो सके—परीक्षा द्वारा सत्य सिद्ध की जा सके। इसी प्रकार उपन्यासकार जहाँ एक ओर अपने पात्रों की सृष्टि में स्वतन्त्र होता है, वहाँ दूसरी ओर उसे यह चिन्ता भी होती है कि उसके पात्र पाठकों को जीवंत एवं सच्चे जान पड़ें। एक बड़े कलाकार के उपन्यासों में एक दूसरी बात भी होती है—उनके पात्र, अपनी समग्रता में, अपनी जीवन-शृंखलाओं की विविधता में, प्रायः युग-जीवन के समस्त महत्वपूर्ण तत्वों का उपयोग कर डालते हैं।

संक्षेप में, संस्कृति का अर्थ चेतनामूलक एवं सृजनात्मक जीवन का विकास है। मनुष्य कल्पनाशील प्राणी है। वह पहले योजनायें बनाता है और फिर उन योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करता है। किसी भी योजना के बनाने का अर्थ है यथार्थ जगत के तत्वों अथवा शक्तियों के एक नए रूप या संगठन की कल्पना करना। इस प्रकार का संगठन प्रकृति द्वारा प्रस्तुत किया हुआ नहीं होता, उसे मनुष्य अपने प्रयत्नों द्वारा अस्तित्व में लाता है। सूर्य तथा चन्द्रमा प्रकृति ने उत्पन्न किये हैं, किन्तु बिजली की बत्तियाँ मानव-मस्तिष्क की सृष्टि हैं। इसी प्रकार रेल, तार, हवाईजहाज आदि पहले मनुष्य की कल्पना में जन्म लेकर बाद में अपने वर्तमान यथार्थ रूप में आविष्कृत किये जा सके हैं।

किन्तु मनुष्य अपनी कल्पना का उपयोग केवल व्यवहारिक उपयोगिता तक ही सीमित नहीं रखता, वह केवल आनन्द के लिए, केवल सौन्दर्य के लिए, तथा केवल ज्ञान के लिए भी उसका उपयोग करता है। मनुष्य को एकरसता पसन्द नहीं है, वह परिवर्तन तथा विविधता चाहता है। भौतिक वस्तुओं के व्यापार प्रायः एक ही तरह, एक ही दिशा में घटित होते हैं; पशु-पक्षियों की प्रतिक्रियाओं में भी विविधता एवं परिवर्तन की सम्भावनायें नितांत सीमित रहती हैं। इसके विपरीत मानवीय क्रिया-कलापों की विविधता की सीमा नहीं है। नर-विज्ञान के पण्डित जिसे 'कल्चर' कहते हैं उसके, विभिन्न मानव-समूहों में, हजारों रूप पाये जाते हैं। विभिन्न देशों तथा जातियों के मनुष्य असंख्य ढंगों से खाते-पीते, वस्त्रों तथा आभूषणों से अपने को अलंकृत करते, तथा विवाह आदि उत्सव मनाते हैं। किसी बड़ी कपड़े की दूकान में चले जाइए, और आप पायेंगे मनुष्य ने शरीर ढकने की आदिम आवश्यकता को किस प्रकार अपने सौन्दर्य-सम्पादन का उपकरण बना डाला है। जान पड़ता है जैसे मनुष्य कहीं भी, किसी भी क्षेत्र में, केवल उपयोगिता के बन्धन को स्वीकार करके नहीं चलना चाहता। वह यह नहीं चाहता कि बाहरी अथवा भीतरी प्रकृति उसके जीवन को किसी खास दिशा में यंत्रवत निर्धारित कर दे। बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रकृति के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करके वह अपने जीवन को निरन्तर विविध बनाता हुआ अपने स्वतन्त्र होने की घोषणा करता रहता है। सम्भवतः यही सब दृष्टि में रखकर स्पिनोजा तथा एगेंल्स जैसे विचारकों ने कहा है कि स्वतन्त्रता का अर्थ अवश्यम्भाविता की चेतना है। बाह्य तथा आन्तरिक प्रकृति के अटूट नियमों की जानकारी द्वारा, उन नियमों की मर्यादा के भीतर ही, मनुष्य अपने जीवनगत वैविध्य एवं स्वतन्त्रता का विस्तार करता है।

संस्कृति की उपरोक्त व्याख्या के आलोक में ही हम प्रगति और परम्परा के सम्बन्ध को ठीक-ठीक समझ सकते हैं। प्रगति का अर्थ है बाहरी तथा भीतरी यथार्थ की चेतना का उत्तरोत्तर विस्तार। यथार्थ की चेतना दो-चार दिन में प्राप्त नहीं की जा सकती, और वह दो-चार मनुष्यों द्वारा भी उपलब्ध नहीं की जा सकती। यथार्थ के स्वरूप का आकलन एक ऐसा काम है जो सम्मिलित जनों अथवा जन-समूहों द्वारा अनवरत अनुष्ठित होता आया है और लगातार अनुष्ठित होता रहेगा। यही कारण है कि सभ्य मनुष्य कभी भी उस परम्परा को जो आज से उसे मुख्यतः भाषा एवं गणित के प्रतीकों में, संगीत की स्वर-साधना में तथा चित्रकारों एवं मूर्त्ति-शिल्पियों द्वारा खींची गयी रेखात्मक सीमाओं में, उपलब्ध है—छोड़कर नहीं चल सकता। आज हम अधिक-से-

अधिक विद्रोही एवं क्रान्तिकारी होते हुए भी न प्राचीन साहित्य की ही उपेक्षा कर सकते हैं, न अतीत विचार-पद्धतियों एवं आदर्शों की ही। सच तो यह है कि हमारा वर्तमान एक ऐसा क्षण मात्र है जो लगातार अतीत में परिणत हो रहा है। मानव-जीवन के किसी भी क्षण में वे सब चीजें जिन पर वह गर्व करता है अतीत की धरोहर-रूप ही होती हैं। आज हम जिन ग्रन्थों को पढ़कर विचारशील बनते हैं और जिन कला-कृतियों का अनुशीलन करके अपनी रस-ग्राहिणी वृत्ति को शिक्षित एवं परिपुष्ट करते हैं उन सबका निर्माण निकट या सुदूर अतीत में हुआ था।

ऐसी स्थिति में प्रगति एवं प्रगतिवादिता का एक ही अर्थ हो सकता है—मानवता के चेतना-मूलक एवं सृजनात्मक जीवन को लगातार आगे की ओर बढ़ाते चलना। प्रगतिशील कलाकार को आवश्यक रूप में पुरानी शैलियों, संगठन-प्रकारों में परिवर्तन, संशोधन अथवा क्रान्ति करनी पड़ती है; आवश्यक रूप में उसे अपनी कला में नवीन विषय-वस्तु का समावेश करना पड़ता है। किन्तु इस सब का उद्देश्य एक ही होता है, मानव-मस्तिष्क में यथार्थ की अधिक समृद्ध चेतना उत्पन्न करना और सृजनात्मक संगठन के नये रूपों में मानव-जीवन की विविधता एवं स्वतन्त्रता का प्रसार करना। इस दृष्टि से देखने पर प्रगति एवं परम्परा की माँगों अथवा मर्यादाओं में कोई मौलिक विषमता या विरोध नहीं है।

: ६ :

प्रगतिवादी समीक्षा-दृष्टि : कुछ सीमायें

आज का युग द्रुत परिवर्तनों का युग है। मनुष्य के इतिहास में सम्भवतः कभी इतनी तेजी से परिवर्तन नहीं हुए, जैसे कि आज हो रहे हैं। ये परिवर्तन मनुष्य के सामाजिक परिवेश एवं जीवन में तो हो ही रहे हैं; किन्तु उससे भी अधिक वे उसके आन्तरिक या आध्यात्मिक जीवन में घटित हो रहे हैं। आज का मनुष्य जीवन और जगत के प्रत्येक पहलू को नयी दृष्टि से देखने लगा है। साहित्य एक ऐसी वस्तु है जो प्रायः सब रसज्ञ पाठकों को प्रभावित करती है। साहित्यिक रसास्वदन के क्षेत्र में विभिन्न देशों की सीमायें भी बाधा डालने में असमर्थ रहती हैं। दूसरे देशों के आचार-विचार तथा रीति-रिवाज हमें प्रायः अनोखे जान पड़ते हैं, और हम उनसे सहानुभूति नहीं कर पाते। किन्तु साहित्य के सम्बन्ध में ऐसा अनुभव नहीं होता; हम अंग्रेजी साहित्य में उतना ही रस पाते हैं, जितना कि स्वदेश के साहित्य में। यही कारण है कि आज विश्व में फ्रान्स तथा रूस के उपन्यासकारों एवं अंग्रेजी कवियों का इतना मान है। हम कहना चाह रहे हैं कि साहित्य के रसास्वादन की इस सार्वभौमता के बावजूद आज हमारी तत्सम्बन्धी दृष्टि में बहुत अन्तर पड़ गया है।

हमारे देश के साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य या साहित्य की एक बहुत संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित परिभाषा दी थी; उनका कहना था कि रसात्मक वाक्य अथवा वाक्य-समूह साहित्य है। साहित्य की परीक्षा करते समय वे उसमें मुख्यतः रस की खोज करते थे; यों कभी-कभी अलंकारों की खोज भी करते थे। यहाँ दो बातें 'नोट' करने योग्य हैं। प्राचीन साहित्यशास्त्री साहित्यकार से विचारों की अथवा जीवन-दर्शन की माँग नहीं करते थे। उन दिनों साहित्यकार जीवन के आदर्श अपने वातावरण से लेता था। दूसरे, प्राचीनकाल में यह नहीं समझा जाता था कि साहित्य का अपने युग से विशेष सम्बन्ध होता है। इसके विपरीत उस समय यह धारणा थी कि साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के स्थायी मनोविकारों

से है। वस्तुतः रसवाद के अनुसार विभावों आदि के द्वारा स्थायीभाव की अभिव्यक्ति ही रस है।

वर्तमान काल में साहित्य के सम्बन्ध में हमारी धारणायें बहुत कुछ बदल गई हैं, और बदल रही हैं। चिन्तन के हर क्षेत्र में आज तरह-तरह के वाद उठ खड़े हुए हैं, साहित्य-समीक्षा भी इसका अपवाद नहीं है। आज के युग में दो प्रकार की समीक्षा विशेष प्रचलित है, एक मनोवैज्ञानिक और दूसरी समाज-शास्त्रीय। समाज-शास्त्रीय से मिलती-जुलती ही ऐतिहासिक समीक्षा-प्रणाली भी है। इसके अतिरिक्त कुछ समीक्षक अपने को अभिव्यञ्जनावादी और दूसरे अपने को प्रभाववादी भी कहते हैं। यहाँ हमें विशेष रूप में समीक्षा के उस दृष्टिकोण को समझना है जो मार्क्सवाद से सम्बन्धित है।

मार्क्सवाद एक जड़वादी या भौतिकवादी दर्शन है। दर्शन में जड़वाद या भौतिकवाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जो अलौकिक सत्ताओं, जैसे आत्मा और परमात्मा में, विश्वास नहीं रखता। भौतिकवाद के अनुसार चेतन का अस्तित्व जड़ पर अवलम्बित है। भौतिक-तत्व की सत्ता पहले है, चेतन तत्व की बाद को। मार्क्सवाद का विरोध मुख्यतः अध्यात्मवाद से है। प्रसिद्ध अध्यात्मवादी हीगल ने कहा था कि विश्व का सारतत्त्व बुद्धि या बुद्धि-तत्त्व है। हीगल ने परब्रह्म को बुद्धि-रूप वर्णित किया है। जिसे हम मूर्तजगत कहते हैं, वह बुद्धि-तत्त्व अथवा प्रत्यय-जगत का ही घनीभूत रूप है। यह बुद्धितत्त्व भौतिक जगत में वैज्ञानिक नियमों के रूप में व्याप्त है। प्रकृति का अध्ययन करते हुये विज्ञान-वेत्ता इसी बुद्धितत्त्व को समझने का प्रयत्न करते हैं।

मार्क्सवाद का दर्शन उक्त सिद्धान्त का ठीक उलटा है। उसके अनुसार जड़तत्त्व की स्थिति पहले है, चेतन की बाद को; चेतना भौतिक परिवेश का प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिफलन मात्र है। चेतना वह दर्पण है, जिसमें भौतिक जगत की छाया पड़ती है। मनुष्य के विचार बदलते हैं, इसलिए कि उसका भौतिक-सामाजिक परिवेश बदलता है। किसी भी समाज-व्यवस्था का मूलाधार उस व्यवस्था में पाये जाने वाले आर्थिक सम्बन्ध होते हैं। ये आर्थिक सम्बन्ध समाज-विशेष की संस्कृति अर्थात् उसके दर्शन, कला, साहित्य, नैतिक मान्यताओं आदि के रूप का निर्धारण करते हैं। किसी देश या युग में जिस प्रकार का आर्थिक ढाँचा होता है, उसी के अनुरूप राजनैतिक व्यवस्था, कला, दर्शन आदि की रूप-रेखा भी बनती है।

मार्क्सवादी समाज-दर्शन का एक दूसरा पहलू भी है। मार्क्सवाद के अनु-सार कोई भी आर्थिक-व्यवस्था जन समूहों के विशिष्ट सम्बन्धों को जन्म देती

है। अतीत की प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में जनता दो भागों में विभाजित देखी जा सकती है, एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। इन वर्गों में सदैव गुप्त या प्रगट संघर्ष चलता रहता है। शोषक वर्ग प्रायः वर्तमान स्थिति का समर्थक तथा परिवर्तन का विरोधी होता है। वह प्रगति का भी विरोधी होता है। इसके विपरीत शोषित वर्ग धीरे-धीरे विद्रोही तथा परिवर्तन का पक्षपाती बन जाता है। शोषित वर्ग उत्पादन के नये साधनों के उपयोग का हिमायती होता है। मार्क्सवादियों का विचार है कि दर्शन, साहित्य आदि सांस्कृतिक प्रयत्न हमेशा एक विशेष वर्ग के दृष्टिकोण को प्रतिफलित करते हैं।

अब हम भौतिकवादियों के समीक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण का विशेष विचार करें। इस दृष्टि या दृष्टिकोण के दो मुख्य पहलू हैं। प्रथमतः मार्क्सवाद का विचार है कि श्रेष्ठ साहित्य वह है जो अपने समय के सामाजिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है। प्राणवान साहित्य का विषय सामाजिक संघर्ष एवं हलचल होने चाहिएँ। साहित्य में नाटक का विशेष स्थान है, और नाटक की विषय-वस्तु व्यक्तिगत नहीं सामाजिक होती है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक ल्यूकैक्स ने अपनी पुस्तक 'योरपीय यथार्थवाद का अध्ययन' में यह प्रतिपादित किया है कि श्रेष्ठ उपन्यासकार मुख्यतः सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हैं। मार्क्स-वादी समीक्षा की दूसरी महत्त्वपूर्ण धारणा यह है कि श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिवादी होता है। इसका मतलब यह है कि उत्तम साहित्य अपने युग की प्रगतिशील शक्तियों का, जो प्रगतिशील परिवर्तन लाना चाहती हैं, साथ देता है। श्रेष्ठ लेखक उन परम्परावादी शक्तियों का विरोध करता है जो उन्नति के मार्ग में बाधा उपस्थित करती हैं।

तो, साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन किस प्रकार होना चाहिए? मार्क्स-वाद का उत्तर है, दो प्रकार से। एक तो हम यह देखने की कोशिश करें कि वह साहित्य अपने युग-जीवन का कितना सफल चित्र उपस्थित करता है—अपने युग की हलचल तथा संघर्षों का कितना सफल उद्‌घाटन करता है। और दूसरे हम यह देखने का प्रयत्न करें कि विशिष्ट साहित्यिक कृति अथवा साहित्यकार का दृष्टिकोण उदार एवं प्रगतिशील है या नहीं। संक्षेप में, किसी अतीत साहित्यिक कृति को सामने रखकर एक मार्क्सवादी समीक्षक जो मुख्य प्रश्न करता है वह यह है—इस कृति ने सामाजिक यथार्थ का उद्‌घाटन करते हुए अपने युग के जीवन को ऐतिहासिक विकास के क्रम में आगे बढ़ने की कितनी प्रेरणा दी?

प्रश्न है, ऊपर के दृष्टिकोण में कितनी सचाई है, और उसकी क्या सीमाएँ

हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य सामाजिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है, और उस जीवन के आदर्शों को हमारे सामने रखता है। अतएव इन दृष्टियों से साहित्य का मूल्यांकन भी किया जा सकता है। किन्तु मार्क्सवाद इस प्रसंग में कुछ और आगे बढ़ता है। उसका खयाल है कि वह इतिहास की प्रगति, अर्थात् मनुष्य की ऐतिहासिक प्रगति के नियमों की परिपूर्ण जानकारी रखता है, और उस जानकारी के आलोक में यह ठीक से निश्चय कर सकता है कि कोई साहित्यिक कृति, अपने युग में, प्रगतिशील थी या नहीं। मार्क्सवाद के इस विश्वास से हम सहमत नहीं हैं। मार्क्सवाद के अनुसार प्रगतिशील व्यवस्था वह है जिसमें उत्पादन के साधनों का पूरा-पूरा उपयोग होता है। किन्तु प्रगतिशील व्यवस्था के दूसरे प्रतिमान भी हो सकते हैं, जैसे मनुष्यों की पारस्परिक सहयोग और स्नेह की भावना, अथवा उनका काव्य-साहित्य तथा चिन्तन में अनुराग।

इसके अतिरिक्त हमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध दो बड़ी आपत्तियाँ हैं, जिनका हम क्रमशः विवरण देंगे। प्रथमतः मार्क्सवाद यह भुला देता है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक एवं कल्पनाशील प्राणी है। वह केवल वर्तमान में ही नहीं रहता। उसका जीवन अतीत की स्मृतियों एवं भविष्य की कल्पनाओं से समृद्ध तथा सरस रहता है। आज जो हम सोचते और महसूस करते हैं वह केवल वर्तमान आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब नहीं है, और जो अतीत हमें प्रभावित करता है वह भी नितान्त जटिल और विविध है। हम बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण की कथा सुनते और चकित होते हैं, यद्यपि उस कथा का हमारी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था से कोई भी बुद्धिगम्य सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार हम राम-कथा से भी प्रभावित होते हैं। अतीत के सहस्रों प्रश्न और भावनाएं आज हमारे जटिल मन-बुद्धि का अंग बने हुए हैं। उनके अभाव में हम वह न रहेंगे जो अब हैं—उस दशा में हम आदिम मनुष्य के निकट पहुँच जायेंगे। जिस प्रकार एक प्रौढ़ व्यक्ति अपने बालकपन तथा यौवन की स्मृतियाँ खोकर एक नितान्त भिन्न छिछला व्यक्ति बन जाता है, वैसी ही दशा हमारी होगी, यदि हम अतीत काव्य, कला, दर्शन आदि की स्मृति खो देंगे। इस स्मृति के अभाव में हमारे समस्त वैज्ञानिक उपकरण हमारे सांस्कृतिक व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ होंगे। हमारे आज के उत्पादन तथा यातायात के साधन विज्ञान पर निर्भर हैं; किन्तु संस्कृति का अर्थ केवल, अथवा मुख्य रूप में, वैज्ञानिक चेतना नहीं है। मार्क्सवाद यह समझाने में असमर्थ है कि आज कालिदास तथा शेक्सपियर, होमर और वाल्मीकि के ग्रंथ हमारे लिये क्यों

महत्त्वपूर्ण हैं। यदि संस्कृति का अर्थ केवल वह चेतना और वे मान्यताएँ हैं जिनका युग की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध है तो यह स्पष्ट है कि हमारे सांस्कृतिक शिक्षण के लिये प्राचीन कला एवं साहित्य अपेक्षित नहीं हैं।

अब हम मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि की दूसरी कमी पर आते हैं। समीक्षा का सफल सिद्धान्त वह है जो श्रेष्ठ कलाकारों की महत्ता को बुद्धिगम्य बना सके। साहित्यिक सिद्धान्तों की सृष्टि श्रेष्ठ साहित्य की व्याख्या के लिये होती है। मार्क्सवाद साहित्यिक विषय-वस्तु की सामाजिकता पर कुछ अधिक गौरव देता है। हमारी समझ में यह दृष्टिकोण अधूरा है। साहित्य का विषय केवल सामाजिक जीवन—अर्थात् वह जीवन जो आर्थिक, राजनैतिक तथा नैतिक व्यवस्था से निर्धारित होता है, या उससे सम्बन्धित रहता है—नहीं है। साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण विषय मनुष्यों के वे सम्बन्ध हैं जो उसकी मूल प्रवृत्तियों से सहचरित हैं, जैसे माँ और बालक का सम्बन्ध तथा प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध। ये सम्बन्ध प्रायः सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में वही रहते हैं। यही कारण है कि कालिदास का 'मेघदूत' जिसकी विषय-वस्तु सामाजिक नहीं है एक महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसी प्रकार सूरदास का बाल-काव्य भी स्थायी महत्त्व की वस्तु है। विद्यापति तथा रवीन्द्रनाथ का अधिकांश काव्य प्रगीतात्मक एवं असामाजिक है, फिर भी ये कवि महत्त्वपूर्ण हैं। कालिदास के 'मेघदूत' तथा विद्यापति के पदों को हम किसी संकुचित अर्थ में प्रगतिवादी भी नहीं कह सकते। उन्होंने इतिहास के दिशा-निर्धारण में कोई योग नहीं दिया है। यही बात सूर के बाल-काव्य पर लागू है। सच तो यह है कि काव्य-साहित्य हमारी रसात्मक चेतना का विस्तार एवं परिष्कार करता है, और इसलिये हमें आनन्द देता है। उसके दूसरे उपयोग गौण हैं। बहुत पहले यही बात आचार्य मम्मट ने कही थी। मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र इस तथ्य को अस्वीकार करता है, इसीलिये वह अपूर्ण अथवा एकांगी है।

: ७ :

होनहार लेखकों से*

हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बन गई है, वैसे भी वह लगभग बीस करोड़ लोगों की भाषा अर्थात् उनके सांस्कृतिक परिष्कार का माध्यम है। राष्ट्र-भाषा घोषित हो जाने पर भी अभी हिन्दी न तो केन्द्रीय सरकार के दफ्तरों में प्रवेश पा सकी है, न विश्व-विद्यालयों की उच्च कक्षाओं में। आप जानते हैं कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने का काफी विरोध हुआ था, और आज भी उसके विरोधियों की आवाज बन्द नहीं है। अतः यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बारह-तेरह वर्ष के बाद हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित एवं सर्वमान्य हो ही जायगी।

हिन्दी के विरोध में कहा जाता रहा है कि उसका साहित्य, विशेषतः आधुनिक साहित्य, दूसरी कतिपय देशी भाषाओं के साहित्यों की तुलना में समृद्ध नहीं है, कि हिन्दी में उच्चकोटि के लेखकों की कमी या अभाव है, कि हिन्दी ने कोई रवीन्द्र जैसा कवि अथवा शरच्चन्द्र जैसा उपन्यासकार पैदा नहीं किया, इत्यादि। मैं इस प्रकार की आलोचनाओं से बहुत कम सहमत होना चाहता हूँ। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि ऐसी आलोचनाओं में काफी सचाई है, विशेषतः यदि हम हिन्दी-साहित्य को समृद्ध योरपीय साहित्यों के सामने रख कर आँकने का प्रयत्न करें।

दूसरी ओर यह स्थिति है कि हिन्दी में अनगिनत लेखक हैं। मेरा अनुमान है कि अकेले कानपुर में कम-से-कम पचास कवि और उतने ही कथाकार होंगे। मैं यह भी नहीं मानता कि हिन्दी भाषी प्रान्तों में प्रतिभाशाली लेखक पैदा नहीं होते, अथवा यहाँ प्रतिभा की कमी है। मेरा विश्वास है कि हमारे अधिकांश नये कवि जो बालकपन से स्वतः ही कविता लिखने लगते हैं, निसर्गसिद्ध कवि होते हैं, यही बात कथाकारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। फिर क्या कारण है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में हम इतनी प्रतिकूल आलोचना सुनते हैं, और सुन कर मौन रह जाते हैं? इसका कारण, मेरी समझ में,

* डी० ए० वी० कालेज, कानपुर में दिये हुए मौखिक भाषण का लिखित अनुवाद।

यही हो सकता है कि हमारे अधिकांश कवि, कथाकार आदि सृजन की ऊँचाइयों तक पहुँचने में असमर्थ रहते हैं, अर्थात् अपनी निसर्गसिद्ध प्रतिभा का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हमारे अधिकांश लेखक उतनी लगन से उच्चकोटि की वह साधना नहीं कर पाते जो साहित्य-सृष्टि का धरातल ऊँचा करने के लिए अनिवार्य रूप में अपेक्षित है। किसी ने कहा है—प्रतिभा एक प्रतिशत प्रेरणा है, और निन्यानबे-प्रतिशत पसीना अर्थात् परिश्रम। मतलब यह है कि जिन्हें हम प्रतिभाशाली कहते हैं वे प्रायः बड़े परिश्रमी साधक होते हैं। प्रश्न है, इस साधना का स्वरूप क्या है? किस प्रकार हमारे नवयुवक लेखक अपने सृजन के धरातल को उच्चतर बना सकते हैं? इस समय हम इसी महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करेंगे।

साहित्यकार साधक के लिए सबसे अधिक अपेक्षित वस्तु है—महापुरुषों अथवा महान् लेखकों की कृतियों का घना परिचय। इन कृतियों को ही अंग्रेजी में 'क्लासिक्स' कहते हैं। 'क्लासिक्स' का परिचय साहित्यकार और समीक्षक दोनों के लिए समान रूप में जरूरी है। 'क्लासिक्स' के पढ़ने से जो मुख्य लाभ होता है वह है—रुचि का परिष्कार। उनके अध्ययन से आप यह महसूस करना सीखते हैं कि उच्चकोटि के भाव और भावाभिव्यक्ति क्या होते हैं। कविता लिखते समय कवि अक्सर एक पद के स्थान में दूसरे पद या शब्द की, और एक पंक्ति के स्थान में दूसरी पंक्ति की, नियोजना करता है, ताकि उसकी भाव-संवेदना अधिक सुन्दर अथवा प्रशस्त बन सके। इस प्रकार के परिवर्त्तन करते हुए, स्पष्ट ही, वह अपनी रुचि से नियंत्रित होगा और उसकी यह रुचि अच्छे-बुरे साहित्य के पढ़ने से ही निर्मित होती है। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति ने साहित्य के नाम पर सिर्फ पं० राधेश्याम कथावाचक की रामायण पढ़ी है उसकी रुचि का धरातल एक होगा, और जिसने तुलसी के 'मानस' तथा वाल्मीकि के काव्य को पढ़ा है, उसकी रुचि का दूसरा। अन्ततः हमारी रुचि का मानदण्ड विश्व के श्रेष्ठतम कलाकारों की कृतियाँ ही हैं।

हिन्दी में कुछ लोगों का विचार है कि कवि के लिए विशेष अध्ययन अपेक्षित नहीं है तथा अच्छा कवि अच्छा आलोचक नहीं हो सकता, और इसके विपरीत भी। किन्तु यह मान्यता निराधार और भ्रामक है। अंग्रेजी लेखक टी० एस० इलियट अपनी पीढ़ी का सब से बड़ा कवि और सब से बड़ा आलोचक है। वह एक उच्चकोटि का विचारक भी है। उसने दार्शनिक ब्रेडले की शैली पर सुन्दर आलोचनात्मक लेख लिखा है; और संस्कृति पर एक पूरी पुस्तक लिख डाली है। समीक्षक के रूप में उसने दाँते, शेक्सपीयर आदि पर

विस्तृत निबन्ध लिखे हैं तथा शेली आदि रोमान्टिक कवियों का पुनर्मूल्यांकन किया है। इसी प्रकार जर्मनी का सर्वश्रेष्ठ कवि तथा नाटककार गेटे योरप का अन्यतम समीक्षक-विचारक भी है। रूसी टाल्स्टाय विश्व के दो-तीन सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों में हैं, उन्होंने 'कला क्या है ?' नाम से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। वे नवयुवक जो सचमुच महत्वपूर्ण लेखक बनना चाहते हैं इस भ्रामक धारणा से अपने को जल्दी-से-जल्दी मुक्त कर लें कि—कवि अथवा साहित्यकार केवल एक भावुक व्यक्ति होता है जिसे शिक्षित और समझदार होने की जरूरत नहीं। सचमुच ही कविता और मूर्खता में कोई आवश्यक लगाव नहीं है और यदि मूर्ख अथवा विचार-शून्य होना कवि बनने की आवश्यक शर्त हो तो, कम-से-कम मेरी दृष्टि में, कवि होना कोई वांछनीय वस्तु नहीं। अवश्य ही कवि अथवा साहित्यकार भावुक एवं संवेदनशील व्यक्ति होता है; किन्तु साथ ही इसे न भूलना चाहिए कि विचारशील एवं गम्भीर व्यक्ति की भावनाओं में ही गहराई और ऊँचाई आ सकती है। विचारशील होने का अर्थ है जीवन के विभिन्न पहलुओं को अधिक स्पष्ट एवं सम्बद्ध रूप में देख सकना—जीवन की प्रत्येक छवि को देश-काल की विशाल पृष्ठभूमि में रख कर समझ और आँक सकना। हम साहित्यकारों के ग्रन्थों में उनके 'सन्देश' की खोज करते हैं; स्पष्ट ही एक विचारशून्य एवं विवेकहीन लेखक मानव-जाति को कोई महत्वपूर्ण सन्देश नहीं दे सकता।

वस्तुतः विश्व में ऐसा कोई बड़ा लेखक नहीं हुआ जो अपने युग की ज्ञान-राशि से सुपरिचित न रहा हो। सूर और तुलसी हिन्दू दर्शन एवं संस्कृति तथा उसकी उलझनों से पूर्णतया परिचित थे। इसी प्रकार कालिदास, भारवि, माघ आदि कवियों में भारतीय दर्शन, राजनीति, धर्मशास्त्र आदि की गहरी जानकारी पाई जाती है। आधुनिक काल में रवीन्द्रनाथ पर्याप्त अधीत लेखक थे, जैसा कि उनकी गद्य-कृतियों—'साधना', 'रिलीजन ऑफ मैन,' आदि-से स्पष्ट प्रमाणित होता है।

हिन्दी के नवयुवक लेखकों को न केवल हिन्दी-साहित्य की 'क्लासिक्स' का अच्छा परिचय होना चाहिए अपितु संस्कृत साहित्य की महनीय कृतियों का भी। तभी वे विशाल भारतीय संस्कृति की उचित अवगति प्राप्त कर सकेंगे। आज के हिन्दी लेखकों के लिए यह भी बहुत जरूरी है वे समृद्ध योरपीय साहित्य का अच्छा परिचय प्राप्त करें।

'क्लासिक्स' को पढ़ने का अर्थ अतीतवादी अथवा अतीतोन्मुख होना नहीं है; न उसका यही अर्थ है कि आप विद्रोही अथवा क्रान्तिकारी न बनें। उसका

यह मतलब भी नहीं कि आप हमेशा अतीत आदर्शों का राग अलापें और अपना लक्ष्य अतीत का पुनरुज्जीवन अथवा अनुकरण बना लें। कोई भी महत्वपूर्ण लेखक किसी भी क्षेत्र में अतीत की पुनरावृत्ति नहीं करता। एक नया लेखक अपनी महत्ता तब ही सिद्ध कर सकता है जब वह अपने वैयक्तिक माध्यम से अपनी निराली अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दे। जो अनुभूति किसी पुराने कलाकार द्वारा पूर्ण अभिव्यक्ति पा चुकी उसे प्रकट करने के लिए आज एक नये लेखक की आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि वे लेखक जो अतीत के महान् कलाकारों का अनुकरण करते हैं साहित्य के इतिहास में ऊँचा स्थान नहीं पाते। न जाने कितने कवियों ने 'मेघदूत' का अनुकरण किया, पर उनमें से कोई भी कालिदास का समकक्ष न बन सका। एक नया उदाहरण लीजिए। विदग्धता तथा वाणी की पूर्णता में 'उद्धवशतक' के लेखक रत्नाकर ब्रज के किसी कवि से पीछे नहीं हैं, फिर भी आप मानेंगे कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका वह स्थान नहीं है जो पन्त, महादेवी अथवा प्रसाद और निराला का है। छायावादी कवि भारतेन्दु से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। कारण यही है कि भारतेन्दु के काव्य में भी प्राचीन की झलक प्रधान है। शाश्वतवादी साहित्य-समीक्षकों को इन उदाहरणों से सबक़ लेना चाहिए।

'क्लासिक्स' के अध्ययन एवं अनुराग का अर्थ पुराणपंथी होना नहीं है—जैसा कि दुर्भाग्यवश, इस देश के बहुत से वयोवृद्ध समझते हैं। 'क्लासिक्स' को हम दो प्रयोजनों से पढ़ते हैं; एक, अपनी रुचियों का धरातल ऊँचा बनाने के लिए, और दूसरे, मानव-अनुभूतियों की महत्वपूर्ण धरोहर को आत्मसात् करने के लिए। इस धरोहर में वृद्धि करने के लिए ही आज के कलाकार और विचारक लिखते-सोचते हैं। अपने युग की विशिष्ट अनुभूतियों को प्रकट करने तथा विशिष्ट समस्याओं को सुलझाने का दायित्व शत-प्रतिशत हमारा अपना है। आज हम अपने युग-जीवन को अभिव्यक्ति देने के लिए कालिदास का उसी तरह आह्वान नहीं कर सकते जिस प्रकार अपनी नैतिक-दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए शंकर और मनु का। 'क्लासिक्स' पढ़ने से हमें यह ग़लत प्रेरणा नहीं मिलनी चाहिए कि स्वयं हमें उतना ही काम नहीं करना है जितना कि कालिदास और शंकर ने अपने समय में किया था।

हमारे देश के लेखकों तथा विचारकों के लिये एक नियम हो सकता है—वे प्राचीन साहित्य केवल अपने देश का पढ़ें और आधुनिक साहित्य योरपीय देशों का भी। इसका मतलब यह है कि हमारे लिए संस्कृत साहित्य पढ़ना जितना जरूरी है उतना प्राचीन यूनानी, रोमन, फारसी, चीनी आदि साहित्यों

का पढ़ना नहीं। यों इन विभिन्न साहित्यों के अध्ययन से हम प्राचीन संस्कृतियों की तुलनात्मक दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं जो ग़लत कोटि की देशभक्ति एवं सांस्कृतिक अभिमान से बचे रहने के लिए जरूरी है।

अब तक हमने 'क्लासिक्स' की बात की। साहित्यकार का प्रधान और एक-मात्र उद्देश्य अपने युग-जीवन का उद्घाटन और अभिव्यक्ति है। इस युग-जीवन को समझ लेना हँसी-खेल नहीं है। वर्तमान युग के अनगिनत लेखक और विचारक उसकी सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक गुत्थियों को समझने और सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक ओर मनुष्य का वर्तमान जीवन अतीत की असंख्य मान्यताओं तथा परम्पराओं से प्रभावित है, दूसरी ओर, नवीन ज्ञान-विज्ञान के आलोक में, वह उन परम्पराओं के प्रति विद्रोही बन रहा है। अतएव उस जीवन को समझने के लिए हमें वर्तमान भौतिक-सामाजिक विज्ञानों तथा दर्शन से उतना ही परिचित होना होगा जितना कि अतीत की विचार-रूप धरोहर से। तभी हम वर्तमान युग के जीवन को उसकी सम्पूर्ण गहराई और विस्तार में समझ सकेंगे। जो अपने युग को इस प्रकार परखने की क्षमता रखता है वही अमर साहित्यकार के पद पर प्रतिष्ठित होने का स्वप्न देख सकता है।

संक्षेप में कहा जाय तो कलाकार की साधना जीवन की भाँति ही व्यापक एवं सर्वतोमुखी होनी चाहिए। दर्शन, आचार-शास्त्र, राजनीति, अर्थ-विज्ञान आदि स्वयं जीवन के ही विभिन्न पहलुओं को समझने के प्रयत्न हैं। ये सब प्रयत्न परस्पर-सम्बद्ध हैं। इसलिए जिम्मेदार कलाकार उनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं कर सकता। वह न प्लेटो की 'आदर्श राज्य' की कल्पना की उपेक्षा कर सकता है, न स्पेंगलर कृत सभ्यताओं के उत्थान-पतन की व्याख्या की। जीवन की दिशा के सम्बन्ध में ठीक से सोच सकने के लिए उसे वैराग्यवाद और भोगवाद दोनों की पोषक युक्तियों का ठीक से मूल्य आँकना होगा। मतलब यह कि श्रेष्ठ कलाकार को गहरे अर्थ में विचारशील और विवेकी होना चाहिए।

हमारी देशी-भाषाओं का शास्त्रीय साहित्य बहुत ही पिछड़ी अवस्था में है। इसके विपरीत प्राचीन संस्कृत का गद्य-साहित्य बहुत उन्नत है, यही बात योर-पीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य पर लागू है। अतः उस लेखक के लिए जो सच्चे अर्थ में विचारशील बनना चाहता है, वर्तमान योरपीय साहित्य से परि-चित होना बड़ा जरूरी है। साहित्य-प्रेमियों की भाषा में सहज गति होती है, अतः भावी साहित्यकारों के लिए अंग्रेजी अथवा किसी दूसरी योरपीय भाषा पर अधिकार कर लेना कठिन नहीं होना चाहिए। यदि कठिन भी हो, तो भी उसके

लिए प्रयत्न करना प्रत्येक उस युवक का जो अच्छा लेखक बनना चाहता है, कर्तव्य होना चाहिए। देश की वर्तमान स्थिति देखते हुए मैं नवयुवकों के सामने लेखकों की योग्यता का एक माप या पैमाना रखना चाहता हूँ—यह पैमाना है अंग्रेजी में अधिकारपूर्वक लिख सकने की योग्यता। अभी हिन्दी के दैनिक पत्रों का धरातल बहुत नीचा है, और मासिक पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति भी सन्तोष-प्रद नहीं है। मैं चाहता हूँ कि हिन्दी का प्रत्येक लेखक इतनी योग्यता सम्पादित कर ले—और यह योग्यता सिर्फ भाषा की ही नहीं, विचारों की भी होगी—कि उसके लेख अंग्रेजी के दैनिक तथा मासिक साहित्य में स्थान पा सकें। इतनी योग्यता सम्पादित कर लेने का जहाँ यह अर्थ नहीं कि लेखक सम्पूर्ण विश्व को सिखाने अथवा सन्देश देने लायक बन गया, वहाँ यह अर्थ जरूर है कि वह देश के सुशिक्षितों के सामान्य बौद्धिक स्तर पर पहुँच गया है। मुझे यह देखकर बड़ी लज्जा और कष्ट होता है कि हिन्दी के किसी लेखक ने अभी तक अंग्रेजी में हिन्दी साहित्य का कोई ठोस इतिहास अथवा परिचय प्रस्तुत नहीं किया, यद्यपि हिन्दी-भाषी प्रान्तों में एक दर्जन के लगभग बड़े विश्वविद्यालय और अनेक दर्जन डिग्री कॉलिज हैं। हिन्दी के जो विद्वान साक्षात् काव्य-साहित्य की सृष्टि में नहीं लगे हैं वे अब तक ऐसा क्यों नहीं कर सके, इसका उत्तर मेरी समझ से बाहर है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी के अधिकांश आलोचक अभी तक अपने को दूसरे समृद्ध साहित्यों के विद्वान आलोचकों का समकक्ष नहीं समझते, और शायद ठीक ही नहीं समझते, भले ही वे हिन्दी-भाषी जनता के सामने अपनी-अपनी बहुज्ञता का दावा तथा प्रदर्शन करते रहे हों। आशा है हिन्दी के समीक्षक तथा शिक्षक मेरे इन विचारों को धृष्टता न मानकर चुनौती के रूप में लेंगे। मेरी कामना है कि हिन्दी-भाषी प्रान्तों क बहुत से लेखक अधिकार-पूर्वक अंग्रेजी में अपने साहित्य तथा साहित्यकारों की चर्चा करने लायक बन जाय। जिस दिन हमारे अनेक लेखक इस योग्य बन चुकेंगे, उस दिन हिन्दी की साहित्य-सृष्टि एवं साहित्य-समीक्षा का स्तर अवश्य ही उच्चतर बन गया होगा। उस दिन कोई सहसा हमारे साहित्य पर कटाक्ष करने का साहस नहीं करेगा, और न हम ऐसे कटाक्षों को असहाय मौन के साथ सहन ही करेंगे, जैसा कि अब तक करते चले आये हैं।

: ८ :

'रामचरितमानस'—एक मूल्यांकन

गोस्वामी तुलसीदास एक विश्व-विश्रुत महाकवि हैं। देश के ही नहीं, विदेश के आलोचकों ने भी उनकी, और विशेषतया उनके 'रामचरितमानस' की, मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। कहा गया है, और यह ठीक भी है, कि उत्तरी-भारत में 'रामचरित मानस' उतना ही लोकप्रिय एवं जीवन को प्रभावित करनेवाला महाग्रन्थ रहा है, जैसे कि योरपीय देशों में बाइबिल। इसमें सन्देह नहीं कि 'मानस' की यह प्रशंसा बहुत-कुछ सही है। यह दूसरी बात है कि आजकल, कम से कम नगरों में, 'रामचरितमानस' का पठन-पाठन एवं प्रचार कम होता जा रहा है; शायद योरप में बाइबिल का प्रचार भी कम हो रहा है।

'मानस' की इतनी प्रसिद्धि उसके सही मूल्यांकन में एक बड़ी बाधा है। हिन्दी समीक्षकों के सामने एक दूसरी बाधा भी है—महान् समीक्षक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की यह घोषणा कि तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। हिन्दी प्रेमियों के सम्मुख एक तीसरी बाधा भी खड़ी हो जाती है। हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बन गई है; उसके विरोधी अभी तक हिन्दी-साहित्य को हीन सिद्ध करने के कुटिल प्रयत्न में लगे हुए हैं; ऐसी दशा में यह नितान्त आवश्यक है कि हम हिन्दी के साहित्यिक वैभव को बढ़ा-चढ़ाकर दूसरे भारतीय राज्यों तथा अन्य देशों के समक्ष उपस्थित करें। इन परिस्थितियों में क्यों कोई हिन्दी-प्रेमी समीक्षक तुलसीदास अथवा उनके 'मानस' की महत्ता के सम्बन्ध में शंका-मूलक प्रश्न उठाये ?

किन्तु प्राचीन कवियों के पुनर्मूल्यांकन की समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। यह कहना काफी नहीं है कि कोई कवि अथवा काव्य-कृति महान् है। किसी भी सभ्य जाति के लिये, जो सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन्त एवं क्रियाशील बनी रहना चाहती है, यह आवश्यक है कि वह अपनी महनीय परम्परा से जीवित प्रेरणा लेती रहे। इस प्रकार की प्रेरणा लेने के लिये यह जरूरी

है कि हमारे हृदय और मस्तिष्क में उस परम्परा के सजीव एवं महत्त्वपूर्ण तत्वों की जागृत चेतना विद्यमान रहे। इस प्रकार की चेतना आवश्यक रूप में अच्छाई-बुराई के विवेक से सहचरित रहती है। मतलब यह है कि प्राचीन कवि हमारे साम्प्रतिक काव्य-सृजन में उसी हद तक सहायक हो सकते हैं जहाँ तक हमने उनके गुण-दोषों की विविक्त चेतना प्राप्त करली है। संक्षेप में हमारे लिये प्राचीन 'क्लासिकल' साहित्य का मुख्य उपयोग यह है कि वह हमारी संवेदना अथवा काव्य-रुचि को परिष्कृत एवं परिमार्जित करते हुए हमें उच्च-कोटि का सृजन करने में मदद दे। जो जाति अपनी सांस्कृतिक धरोहर का ठीक से मूल्यांकन नहीं कर सकती, और उसे ग़लत हेतुओं से अच्छा या बुरा समझती है, वह संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में ऊँचे प्रयत्न नहीं कर सकती। सच यह है कि प्रत्येक जीवित जाति अपने इतिहास के प्रत्येक युग में पुराने सांस्कृतिक प्रयत्नों का फिर से मूल्यांकन करती है; इसलिये कि इस प्रकार का मूल्यांकन उसके सत्यान्वेषण एवं सांस्कृतिक उत्थान की प्रक्रिया का आवश्यक अंग है।

तात्पर्य यह कि किसी छोटे-मोटे मतलब या नीति से प्रेरित होकर हमें अपने कवियों के पुनर्मूल्यांकन से आशंकित या विरक्त नहीं होना चाहिये। हमें इस बात का कोई भय नहीं होना चाहिये कि कहीं सूक्ष्म छानबीन करने पर हमारा कोई माना हुआ लेखक हीन न सिद्ध हो जाय। तुलसीदास के साथ ऐसा कोई ख़तरा नहीं है। वे सचमुच ही इतने बड़े कवि हैं कि खरे-से-खरे विश्लेषण की आँच को सह सकें। जिस बात में प्रस्तुत लेखक को सन्देह है वह यह है—कि 'रामचरितमानस' तुलसी के महत्त्व का श्रेष्ठतम प्रतीक है। हमारा विचार है कि जहाँ तुलसीदास निःसंशय बहुत बड़े कवि हैं, वहाँ 'राम-चरितमानस' के अनेक स्थल विशेष उच्चकोटि के काव्य नहीं हैं। इसका यह भी मतलब हो सकता है कि 'मानस' के उक्तस्थल आज के पाठक को, जो तुलसी की दार्शनिक-धार्मिक भावनाओं से सहानुभूति नहीं रखता, श्रेष्ठ काव्य नहीं जान पड़ते।

यहाँ थोड़ा-सा सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण अपेक्षित है। हम मानते हैं कि कला तथा चिन्तन के श्रेष्ठतम प्रयत्न सार्वभौम होते हैं। चिन्तन की भाँति कला का उद्देश्य भी सर्वग्राह्य सत्यों का उद्‌घाटन या अभिव्यक्ति है। कला में रागात्मक मानव-जीवन की सत्य संभावनाओं का प्रकाशन होता है। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। यथार्थ जीवन के तथ्यों को लेकर साहित्यकार जीवन के ऐसे स्पन्दनों की सृष्टि करता है जो नवीन होते हुए भी यथार्थ जान

पड़ते हैं। इस प्रकार के स्पन्दनों, भावनाओं, एवं जीवन-चित्रों की उद्भावना या सृष्टि द्वारा कलाकार मानव-जीवन की सीमाओं में विस्तार करता है—मानव-जीवन को विस्तृत एवं समृद्ध बनाता है। यदि किसी विशिष्ट कलाकार के द्वारा उपस्थापित रागात्मक संभावनायें यथार्थ नहीं हैं तो वे पाठकों के जीवन-स्पन्दन को नयी गति नहीं दे सकेंगी; यदि वे सम्भावनायें ऐसी हैं कि एक विशिष्ट वर्ग अथवा जाति को ही ग्राह्य हो सकेंगी, तो वे, उस अंश तक असार्व-भौम हैं और इसलिये पूर्णतया सत्य नहीं हैं। एक दार्शनिक, जिसके विचार केवल उसके देश या जातिवालों को ही पसन्द आते हैं, उतना बड़ा विचारक नहीं कहला सकेगा जितना कि वह चिन्तक, जिसके विचार अनेक सभ्य जातियों अथवा राष्ट्रों के सदस्यों को महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं।

आज हम मानते हैं कि काव्य-साहित्य का एकमात्र विषय मानव-जीवन है। तुलसी के अध्येता को असमंजस एवं कठिनाई में डालने वाली बात यह है कि काव्य के सम्बन्ध में उनकी मान्यता आधुनिक सामान्य धारणा की ठीक उलटी है। गोस्वामी जी का विचार है कि कविता का, वाणी का, प्रकृत विषय प्राकृत नर का चरित्र-गान नहीं है—उसका विषय भगवान का विरुद-गान है। इस मान्यता के बावजूद यदि गोस्वामी जी आधुनिक पाठकों की दृष्टि में कवि ही नहीं महाकवि हैं, तो इसका कारण यह है कि उनके आराध्य भगवान को मनुष्य का रूप धारण कर मानवोचित व्यवहार करना पड़ा था।

फिर भी यह ठीक है कि तुलसीदास का चिन्तित या अभीष्ट उद्देश्य मान-वता के जीवन अथवा अन्तर्विकारों को चित्रित करना नहीं है। अपने प्रधान ग्रन्थ 'रामचरितमानस' में सचेत भाव से वे जिस जगत का चित्र खींचना चाहते थे वह मुख्यतः धार्मिक एवं पौराणिक कल्पना द्वारा निर्मित जगत था, मानव-जगत नहीं। तुलसी का जगत प्रधान रूप में देवी-देवताओं, ऋषि-मुनियों, भक्तों और सन्तों तथा भगवान और उनके कृपा-पात्रों के अलौकिक व्यापारों का जगत है; उनके अधम पात्र उतने ही अलौकिक हैं जैसे कि धार्मिक पात्र; वहाँ साधारण नर-नारियों के साधारण लौकिक जीवन और मनोविकारों को बहुत सीमित स्थान है। राम की कथा प्रायः इस लोक की कथा है, अतः यह सम्भव था कि तुलसीदास उसे विशुद्ध लौकिक धरातल पर वर्णित करते, किन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं। पूरे 'मानस' में केवल अयोध्याकाण्ड ही वह भाग है जहाँ राम-कथा मानवीय धरातल पर चलती है; शेष स्थलों में वह प्रायः धार्मिक और अलौकिक संकेतों से भरी है। वहाँ मानवीय प्रसंगों को भी अलौकिक धार्मिक भावनाओं के आरोप द्वारा अतिमानव बना दिया गया है।

अधिक सच कहना यह होगा कि तुलसीदास, कवि होने के नाते भी, चाहते तो यही थे कि राम की ऐहलौकिक लीलाओं अर्थात् मानव-जीवन का चित्रण करें, किन्तु चूँकि उनका विश्वास था कि इस जगत का जीवन एक अलौकिक जगत की सत्ताओं द्वारा प्रभावित एवं नियंत्रित होता है, इसलिए वे उस जीवन की वास्तविकता का सही अंकन न कर सके।

बात यह है कि जहाँ एक ओर साहित्यकार स्वयं जीवन-शक्ति के राग-विरागों का सन्देश-वाहक होता है, वहाँ दूसरी ओर वह अपने देश-काल और समाज की तरह-तरह की नैतिक-धार्मिक मान्यताओं से भी आक्रान्त रहता है। इसका एक फल यह होता है कि कलाकार अपनी कृतियों में युग-जीवन का परिचय दे देता है। मार्क्सवादी कहेंगे कि कलाकार मुख्यतः, बल्कि एक मात्र, यही काम करता है। वे यह भी कहेंगे कि साहित्यकार मानवता के नहीं बल्कि एक विशेष वर्ग के राग-विराग-मूलक पक्षपातों को अभिव्यक्ति देता है। लेकिन हम इस मान्यता से पूर्णतया सहमत नहीं। जहाँ यह ठीक है कि कलाकार की संवेदना अपने वर्ग और अपने देश-काल के पक्षपातों से प्रभावित होती है, वहाँ इस मन्तव्य में भी काफी सचाई है कि काव्य-साहित्य का विषय मानव-मात्र के अन्तर्विकार हैं। यही कारण है कि अच्छे काव्य का साधारणीकरण होता है—वह सब प्रकार के, सब वर्गों एवं विभिन्न मान्यताओं वाले, पाठकों के लिए ग्राह्य होता है।

दूसरे शब्दों में हम इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं। कला-सृष्टि दो प्रकार की होती है; एक वह जिसमें कलाकार विशुद्ध मानवीय अन्तः-प्रकृति और उसकी संवेदना से नियंत्रित रहता है; और दूसरी वह जिसमें वह जीवन की स्थितियों को अपने समाज और देश-काल के पक्षपातों के रंगीन चश्में से रँग कर देखता है। यदि यह मान लिया जाय कि ये पक्षपात वर्गगत स्वार्थों से सम्बद्ध होते हैं तो कहना होगा कि पूर्णतया मानवीय काव्य अर्थात् वह काव्य जो मनुष्य-मात्र को ग्राह्य हो सके—वर्गहीन समाज में ही लिखा जा सकेगा। उदाहरण के लिए जब तुलसीदास कहते हैं कि—

पूजिय विप्र शील गुण हीना।
शूद्र न विद्या-कला प्रवीना॥

तो स्पष्ट ही उनकी कल्पना के आगे वर्ग-विशेष के श्रोता रहते हैं जो शूद्रों से भिन्न हैं।

किन्तु पक्षपात केवल वर्गगत ही नहीं होते। विभिन्न देशों, धर्मों तथा समाजों की भिन्न-भिन्न नैतिक-धार्मिक मान्यतायें रहती हैं, जो कलाकार की

विशुद्ध मानवीय भावनाओं में हस्तक्षेप करती हैं। नीचे हम देखेंगे कि 'राम चरितमानस' में तुलसी की अतिधार्मिक भक्ति-भावना उक्तकृति के कलात्मक सौष्ठव में बाधक बन गई है। वस्तुतः धर्म अथवा राजनीति किसी से भी अधिक प्रभावित होने वाला कलाकार अपने विशिष्ट कर्तव्य अथवा कवि-कर्म के प्रति ईमानदार बना नहीं रह सकता।

'मानस' का प्रारम्भ देवताओं तथा गुरु की वन्दना से होता है। इसके पश्चात् राम-कथा और राम-नाम का महिमा-गान है जो विशुद्ध धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। सामान्यतः 'बालकाण्ड' में अलौकिक कथा-प्रसंगों और घटनाओं की भरमार है।

कहा जा सकता है कि अलौकिक कथाओं को मानवी रूप देने की कोशिश उन्हें अस्वाभाविक बना देती है। किन्तु यह ठीक नहीं। शिव-पार्वती के विवाह की कथा में जहाँ-तहाँ विशुद्ध मानवी भावों का समावेश करके महाकवि कालिदास ने उसे सुन्दर काव्य का रूप दे दिया है; तुलसी में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं दीखता। विवाह की यात्रा में कालिदास के शिव मनोज्ञ युवा का रूप धारण कर लेते हैं, जब कि तुलसी के शंकर प्रारम्भ से आखिर तक भयंकर बने रहते हैं। यहाँ वे ग्राह्य हैं तो इसलिए कि उनके पास अलौकिक, अतिमानव शक्ति और ऐश्वर्य है। इसी प्रकार मदन-दहन प्रसंग में कालिदास ने शिव का उमा के सौन्दर्य से आकृष्ट होना दिखलाया है—

"उमामुखे बिम्बफलाधरौष्ठे, व्यापारयामास विलोचनानि।"

अर्थात् बिम्बफल जैसे अधर वाले उमा के मुख पर शिव की दृष्टि पड़ी; 'मानस' में इसका कोई संकेत नहीं है।

सच बात यह है कि 'मानस' में सर्वत्र सात्विक आवेगों एवं मनोभावों का ही निरूपण है; वहाँ आपको कोई ऐसा वर्णन नहीं मिलेगा जो आपके मन में विशुद्ध शृंगार की भावना जागृत करे। कवि के सौन्दर्य-वर्णन का मुख्य आलम्बन राम हैं; बीसियों स्थलों में राम के सौन्दर्य का वर्णन है, सैंकड़ों जगह उसका संकेत। किन्तु कहीं भी यह वर्णन या संकेत शृंगार-रस का उद्रेक नहीं करता। राम का सौन्दर्य मुख्यतः सन्तों और भक्तों के उपयोग का विषय है, माता-पिता तथा गुरुओं के निरीक्षण की वस्तु है। उसे सीता भी देखती हैं, और जनकपुर के स्त्री-पुरुष भी; किन्तु ऐसे स्थलों में प्रायः राम के किशोरत्व पर गौरव दे दिया गया है, अथवा उनके अलौकिकत्व पर; फलतः राम कहीं भी दृष्टि को वासना से उष्ण नहीं बनाते। यही बात कवि के सीता-सम्बन्धी वर्णनों पर लागू है। सीता कहीं भोली बालिका हैं तो कहीं ऐश्वर्यशालिनी

जगज्जननी; 'मानस' में कहीं भी वे युवती या तरुणी के रूप में चित्रित नहीं की गईं।

गोस्वामी जी ने कहीं-कहीं जनकपुर और अयोध्या के नगरों में युवती नारियों का भी उल्लेख किया है; विशेषतः राम के विवाह-प्रसंग में; किन्तु सर्वत्र ही यह उल्लेख या वर्णन शृंगार के संकेतों से मुक्त है। यह नहीं कि इन प्रसंगों में गोस्वामी जी सौंदर्यवाची शब्दों या विशेषणों का प्रयोग नहीं करते; किन्तु ये शब्द कुछ ऐसे ठंडे ढंग से नियोजित होते हैं कि वे पाठक में शृंगार की भावना का उद्रेक नहीं कर पाते। वास्तव में गोस्वामी जी नारी-सौंदर्य की नितान्त बाहरी सामान्य झलकें दिखा देते हैं; उसके विशिष्ट और हृदय को पकड़ने वाले विभ्रम-विलास का संकेत कभी नहीं देते। जनकपुर में स्त्रियाँ राम का परछन करने चल रही हैं—

सजि आरती अनेक विधि, मंगल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछनि करन, गजगामिनि बर नारि॥
बिधु बदनी सब सब मृगलोचनि, सब निज तन छबि रति मद मोचनि।
पहिरे बरन बरन बर चीरा, सकल विभूषन सजे सरीरा।
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं, करहिं गान कलकंठहिं लाजहिं।

शब्दों के देखने से जान पड़ता है कि बाबा जी ने कोई कसर नहीं छोड़ी है; सब परम्पराभुक्त विशेषण खर्च कर दिये हैं; किन्तु उनका प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर होता है।

बात यह है कि स्वयं वर्णन करने वाले कवि के मन में ही किसी प्रकार का विकार नहीं होता जिसे वह पाठकों में संक्रान्त कर सके। सीता के सौन्दर्य-चित्रण भी प्रायः इसी प्रकार ठंडे और निर्विकार हैं—

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे।
छबि गन मध्य महाछबि जैसे॥

और—

सोहति बनिता बृन्द महँ, सहज सुहावनि सीय।
छवि ललना गन मध्य जनु, सुषमा तिय कमनीय॥

राम के विवाह के अवसर पर बहुत-सी देव-ललनायें नारी का रूप धारण करके आ गई हैं,

नारि वेष जे सुर बर बामा,
सकल सुभाय सुन्दरी स्यामा।
तिन्हइ देखि सुख पावहिं नारी,
बिन पहचानि प्राण ते प्यारी।

नारियों को देखकर नारियों का स्नेह और प्रसन्नता महसूस करना अस्वाभाविक नहीं—पर कैसे ढंग से बाबा जी दूसरी भावनाओं की संभावनाओं को बचा गये हैं ! जैसे वे श्यामा सुन्दरियाँ नारियों को ही दिखाई दीं, पुरुषों को नहीं। मिल्टन के महाकाव्य की भाँति 'रामचरित-मानस' से भी शृंगार-भावना का सप्रयास बहिष्कार किया गया है।

इस बहिष्कार की प्रवृत्ति से जहाँ 'मानस' में विशेष धार्मिक विशुद्धता और निर्मलता आ जाती है, वहाँ उसकी मानवीयता और सरसता कम भी हो जाती है। विवाह के अवसर पर वर-वधू में एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक उत्कंठा और परस्पर देखने की लालसा रहती है। राम और सीता भी उस अवसर पर पास-पास बैठे हुये एक-दूसरे को देखना चाहते हैं, अथवा देखने का प्रयत्न करते हैं, यह गोस्वामी जी को अविदित नहीं। किन्तु कैसे मिथ्या रहस्य-भरे शब्दों से वे उस अवसर की सरसता को उड़ा देते हैं—

सिय राम अवलोकहिं परस्पर, प्रेम काहु न लखि परै।
मन बुद्धि वर बानी अगोचर, प्रगट कवि कैसे करै॥

इसके वैषम्य में ऐसे ही मौके का कालिदास द्वारा खींचा हुआ चित्र देखिये—

"तयोरपांगप्रतिसारितानि, क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्य लोलानि विलोचनानि।"

कुमार अज और कुमारी इन्दुमती सन्निकट बैठे हैं। उनके नेत्र एक-दूसरे को देखने की लालसा से अपांगों (बाहरी कोरों) की ओर प्रसृत होते और टकराकर निवर्तित हो जाते हैं; इस प्रकार वे लज्जा की मनोज्ञ यंत्रणा (व्यथा) को प्राप्त हो रहे हैं—मनोरम लज्जाकष्ट से पीड़ित हो रहे हैं।

वस्तुतः 'मानस' में राम और सीता दोनों ही कहीं युवा प्रेमिक-प्रेमिका जैसा व्यवहार करते नहीं दीखते। स्वयं राम या तो किशोर बालक के रूप में दिखाई देते हैं या फिर गम्भीर कर्तव्य-परायण शान्त पुरुष के रूप में।

हमारा अनुमान है कि भावात्मक सात्विकता के निर्वाह के लिये भी मानवोचित प्रणय-भावना पर इतना कड़ा प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक नहीं था। माना जा सकता है कि कालिदास ने शिव-पार्वती के प्रणय-वर्णन में औचित्य का उल्लंघन किया है; कालिदास ने राम और सीता के सम्बन्ध-चित्रण में भी कुछ अधिक स्वतन्त्रता ली है। किन्तु सात्विकता एवं प्रणय-भावना में सामंजस्य हो ही नहीं सकता—ऐसी बात नहीं है। महाकवि भवभूति की यह विशेषता है कि वे पूर्ण सात्विकता का वातावरण रखते हुये भी राम और सीता के प्रणय

की तीव्रता एवं गहराई दोनो ही को सफल अभिव्यक्ति दे सके है। लक्ष्मण की उपस्थिति में ही आत्म-चरित के उद्घाटक चित्रों को देखते हुये राम सीता को लक्ष्य कर कहते हैं;—

समयः स वर्त्तत इवैष यत्र मा
समनन्दयत् सुमुखि गौतमार्पितः
अयमागृहीतकमनीयकंकण
स्तव मूर्त्तिमानिव महोत्सवः करः।

अर्थात्, 'हे सुमुखि ! जान पड़ता है जैसे वह घड़ी अभी ही आकर उपस्थित हो गई है, जब पुरोहित गौतम के द्वारा अर्पित किये हुये, सुन्दर कंकण पहने, मूर्तिमान महोत्सव जैसे तुम्हारे कर-कमल ने मुझे आनन्द-विभोर किया था।'

आगे विन्ध्य पर्वत तथा गोदावरी नदी के चित्र देखकर राम को याद आता है कि किस प्रकार वे सीता के साथ, कपोल से कपोल सटाये, बाँह में बाँह बाँधे, बिना क्रम की बातें करते हुए अनजाने ही सारी रात बिता देते थे। चित्र-दर्शन से थकी हुई सीता से राम कहते हैं, 'मेरा सहारा लेकर चली चलो। श्रान्ति एवं श्रम के कारण, जिस पर स्वेद-बिन्दु झलक आये हैं, और जो इन्दु-किरणों के स्पर्श से द्रवित होने वाली चन्द्र-मणियों के हार के समान मनोरम है, जिसका स्पर्श जीवनदायी है, उस बाँह को मेरे कण्ठ में डाल दो।' कुछ आगे सीता के वचनों को लक्ष्य कर वे कहते हैं—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
संतर्पणानि सकलेन्द्रिय मोहनानि
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि।

अर्थात्, 'तुम्हारे वचन मुरझाये हुये जीवन-कुसुम को विकसित करने वाले और इन्द्रियों को मोहने वाले हैं; वे कानों के लिए अमृत हैं और हृदय के लिये रसायन।'

प्रेम के इस प्रकार के मार्मिक चित्रण के अभाव से 'रामचरित-मानस' के कलात्मक सौष्ठव को निश्चय ही क्षति पहुँची है। सीता जी का हरण होने से पहले राम ने कहा था—

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुशीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा॥

सीता जी ने राम की आज्ञानुसार अग्नि में प्रवेश किया और अपनी छाया को धरती पर छोड़ दिया। इस कथा के बाद कवि तथा पाठक दोनों का ही

हृदय राम के वियोग-कष्ट-वर्णन में नहीं रम सकता। वस्तुतः अरण्य-काण्ड का यह वर्णन एक रूढ़ि का निर्वाह करने के प्रयत्न जैसा जान पड़ता है।

गोस्वामी जी ने राम और सीता के मनोभावों के वर्णन में शृंगार-भावना का बहिष्कार किया है। इतना ही नहीं; वे जहाँ-तहाँ राम से सम्पर्कित होने वाले बालक और वयस्क, युवा और वृद्ध अधिकांश पात्रों की मनोवृत्ति पर स्वयं अपने भक्त और साधक के व्यक्तित्व की भावनाओं का आरोप करते पाए जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उन पात्रों का आचरण अस्वाभाविक हो जाता है। स्वयंवर के अवसर पर जनक और उनकी पत्नी दोनों ने ही शिव-धनुष को अखण्डनीय समझते हुए गहरी चिन्ता महसूस की थी, किन्तु बाद में राम के चरणों को पखारते हुये, वे दोनो कुछ वैसे ही आवेगों का अनुभव करते हैं जैसा राम को भगवान समझने वाले कुछ सन्त भक्त करेंगे—

लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली।

और

जे पद-सरोज मनोज-अरि-उर-सर सदैव बिराजहीं।

× × ×

मकरन्द जिन्ह को सम्भु सिर सुचिता अवधि सुर बरनईं॥
करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गात लहैं।
ते पद पखारत भाग्य भाजनु जनकु जय-जय सब कहै॥

यहाँ पर जनक ही नहीं दर्शकों पर भी भक्तोचित भावनाओं का आरोप कर दिया गया है। धनुष के तोड़े जाने से पहले भी बहुत से 'भले' राजा राम के प्रति ऐसी ही भावनाओं का अनुभव कर रहे थे। अयोध्या पहुँचने पर राजा दशरथ एक ओर तो रानियों से कहते हैं कि लड़के थके हुये उनींदे हो रहे हैं, इन्हें ले जाकर शयन कराओ; और दूसरी ओर वे राम के चरणों को चित्त में रखकर विश्राम करने जाते हैं—

लरिका श्रमित उनींद बस, सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे बिश्राम-गृह, राम चरन चित लाइ॥

इसी प्रकार जब बिदा करते समय जनक राम से कहते हैं कि 'आपकी प्रशंसा किस भाँति करूँ, आप तो मुनियों तथा शिवजी के मन-रूपी मानसरोवर के हंस हैं,' तो यह समझना कठिन हो जाता है कि उन्होंने इस बीच में शिव तथा मुनियों के सम्बन्ध में यह रहस्यपूर्ण बातें कैसे जान लीं। ऐसा ही अस्वाभाविक सीता की माता का राम से यह कहना है कि, 'आप तो सबकी गति जानते हैं, सीता मुझे और सबको प्राणों से भी प्रिय है।'

विवाह के बाद जब सीता जी विदा होने लगती हैं तो स्वभावतः उनकी माता उन्हें सास-ससुर तथा पति की सेवा का उपदेश देती है। आश्चर्य की बात यह है कि सीता की सखियाँ भी उनसे किसी प्रकार का हँसी-मज़ाक न करके उन्हें नारी का धर्म सिखाने लगती हैं।

'मानस' में राम से सम्पर्कित होने वाले लोग कहाँ उन्हें मनुष्य समझते हैं, और कहाँ भगवान, यह कहना बड़ा कठिन हो जाता है। पंचवटी-प्रसंग में लक्ष्मण सीता की आशंका को दूर करने के लिये कहते हैं कि, 'जिनके भृकुटि-विलास मात्र से सृष्टि और लय होते हैं, उनके ऊपर क्या स्वप्न में भी संकट आ सकता है ?' चित्रकूट में निषाद और भरत की बातों से यह स्पष्ट है कि वे दोनों ही राम के ईश्वरत्व से अवगत हैं। शूर्पणखा की शिकायत और रुदन सुनकर रावण कहता है, 'खर और दूषण तो मेरे ही समान बलवान थे। उन्हें भगवान के सिवाय कौन मार सकता है ? यदि सचमुच भगवान ने अवतार लिया है तो मैं उनसे ज़रूर ही शत्रुता करूँगा, ताकि उनके बाणों से मृत्यु पाकर मैं भव-समुद्र से तर जाऊँ।'

राम के ईश्वरत्व तथा अनेक अलौकिक घटनाओं के बावजूद यदि 'रामचरित मानस' हमें स्पर्श करता है तो इसका कारण यह है कि उसमें जगह-जगह विशुद्ध मानवीय भावनाओं का भी समावेश होता गया है। विशेषतः राम के चरित्र में इस मानवीयता का पुट बड़ा सशक्त एवं हृदयस्पर्शी है—उनके अलौकिकत्व का प्रभाव प्रायः दूसरों के व्यवहार में ही परिलक्षित होता है। तुलसी के राम सचमुच ही बड़े सरल एवं सहृदय मानव हैं। अपने राज्याभिषेक की ख़बर सुनकर वे सोचते हैं—

जनमें एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करन बेध उपबीत बिआहा। संग-संग सब भये उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

कैकेई के वन-निर्वासन के आग्रह को जानते हुये भी वे मन में तनिक भी कटुता नहीं लाते। इसके विपरीत वे ऐसा भाव बनाते हैं जैसे वन-गमन में उनके लिये कल्याण-ही-कल्याण है—

मुनिगन मिलन बिसेषि बन सबहिं भांति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ॥

चित्रकूट में भरत से मिलने की उत्कंठा में राम का वस्त्र कहीं जाता है, धनुष कहीं, और तरकस तथा तीर किसी तरफ। राम की उदारता का एक ही चित्र बड़ा मर्मस्पर्शी है—'जिस सम्पत्ति को रावण ने अपने दस शिर चढ़ाकर

शिवजी से पाया था, उस सम्पत्ति (लंका के राज्य) को रामचन्द्र ने सकुचते हुये विभीषण को दिया।' महानुभावता का इससे अधिक सफल चित्रण कहीं मिलना कठिन है।

वस्तुतः राम के रूप में तुलसीदास ने एक ऐसे नर-रत्न की कल्पना की है जिसमें हिन्दू संस्कृति के समस्त अच्छे गुण विद्यमान हैं। प्रायः समझा जाता है कि विभिन्न देशों अथवा जातियों की नैतिक मान्यतायें अलग-अलग होती हैं। इन मान्यताओं का भिन्न जीवन-दृष्टियों अर्थात् धार्मिक, दार्शनिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध होता है, किन्तु हमारा अनुमान है कि राम के चरित्र की श्रेष्ठता एक-देशीय नहीं, सार्वभौम है। भले ही दूसरे देशों के लोग हिन्दूधर्म के सिद्धान्तों को न मानें, किन्तु हमारा दृढ़ विश्वास है कि उनमें से कोई भी राम की सज्जनता एवं सहृदयता से प्रभावित हुये बिना नहीं रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि चारित्रिक साधुता अथवा श्लाघ्य मानवता का आदर्श सभी देशों तथा जातियों के लिये समान ही है। जो कोई भी जाति अपने काव्य-साहित्य द्वारा ऐसे आदर्शों से अनुप्राणित होती रहती है—अनियंत्रित भोग-भावना के बदले जो त्याग एवं सहृदयता का पाठ सीखती है—उसका स्थायी पतन नहीं हो सकता। हमारा अनुमान है कि तुलसीदास ने अपनी इन उदात्त प्रेरणाओं द्वारा पतनोन्मुख हिन्दू जाति को अवश्य ही बल दिया होगा।

मानवीय सहृदयता के सबल चित्र देने में तुलसीदास अद्वितीय हैं। प्रयाग में राम-सीता का कुश का बिछौना देखकर भरत की आँखों से आँसू बहने लगते हैं। जो सीता जनक की पुत्री और दशरथ की पुत्र-वधू हैं, जिनके पति रघुनायक राम हैं, उनके कुशों के बने हुये बिछौने पर सोने की कल्पना कितनी करुण है!

पति देवता सुतीय मनि सीय सांथरी देखि।
बिहरत हृदउ न हहरि हर पवि तें कठिन बिशेषि॥

सचमुच ही ऐसे दृश्य को देखकर भरत का ही नहीं किसी भी सहृदय का हृदय फट जाने की कामना करेगा। राम के लिये भी भरत इसी प्रकार दुःखी होते हैं। जिन राम की कोमल मूर्ति और सुकुमार स्वभाव है; जिनके शरीर को कभी गर्म हवा भी नहीं लगी; जिन्होंने अपने जन्म से जगत को प्रकाशमय किया है; जो रूप, शील और गुणों की खान हैं; वैरी भी जिनकी बड़ाई करते हैं; बोलते और मिलते समय जो विनय से मन हर लेते हैं; जिन्होंने कभी किसी का दुःख कानों से भी नहीं सुना; जिनकी दशरथ जीवन-वृक्ष की भाँति चिन्ता करते थे; जो अपनी माताओं को वैसे ही प्यारे थे, जैसे सर्प को मणि;

वे राम कुशों के बिछौने पर सोते हैं और कन्द-मूल फल खाकर निर्वाह करते हैं—विधाता की गति सचमुच ही बड़ी बलवान है। राम-सीता के संकटों के ये चित्र मानव मात्र को धैर्य एवं सहिष्णुता का पाठ सिखाते हैं।

कवि ने राम को एक ऐसे महापुरुष के रूप में चित्रित किया है जो स्वयं कभी विचलित न होते हुये दूसरों को अभय एवं आनन्द देने के लिये ही जीवित रहता है—

बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥

मानस में जहाँ-जहाँ इस प्रकार के चित्र हैं, वहाँ वह काव्य के ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित है। यों मानवीय चित्रण की दृष्टि से बाल और अयोध्या काण्ड सहज ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इस दृष्टि से तुलसी की दूसरी कृतियाँ—कवितावली, गीतावली, जानकी मंगल आदि—विशेष महत्त्व रखती हैं। किन्तु स्वयं 'मानस' में अयोध्या काण्ड के बाद का अधिकांश भाग विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'मानस' का यह भाग श्रद्धालु एवं विश्वासी पाठकों का जितना मनोरंजन कर सकता है, उतना विशुद्ध काव्य-प्रेमियों का नहीं। तुलसीदास अपने उक्त महा-काव्य में लगातार मानवोचित चित्र देते हुए नहीं चलते। इस दृष्टि से "सूर-सागर" तुलसी के मानस से अधिक ऊँची कोटि का काव्य कहा जा सकता है। सूरदास के ग्रन्थ में जीवन के बारीक एवं मार्मिक चित्रों की जैसी ठोस प्रचुरता है, वैसी हिन्दी कविता में अन्यत्र सुलभ नहीं है। इस दृष्टि से हम सूरदास को तुलसी से महत्तर कवि कह सकते हैं।

अतिरिक्त टिप्पणी

उक्त निबन्ध में हमने इस बात पर गौरव किया है कि गोस्वामी जी की वैराग्यनिष्ठ भक्ति-भावना उनके काव्य की सरसता और जीवनानुकारिता में बाधक हुई है। किन्तु इसके साथ हमें यह जोड़ना चाहिए कि स्वयं धर्म और भक्ति की भावना भी मानव-जीवन का अंग है, उससे बहिर्भूत नहीं। अतः एक धार्मिक कवि के रूप में तुलसीदास का ऊँचा स्थान है। एक उदात्त अपरिमेय उपास्य की कल्पना का भी मानव-जीवन और इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। राम के प्रति गोस्वामी जी जिस प्रगाढ़ भक्ति-मूलक आवेग का अनु-भव करते हैं वह अकृत्रिम तो है ही, काव्य-निबद्ध रूप में संक्रामक भी है।

धर्म-भावना से भी अधिक संक्रामक है 'मानस' की उदात्त नैतिक दृष्टि। और यहाँ यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि कहाँ तक और किस प्रक्रिया से अतीत कलाकारों की जीवन-दृष्टि आज हमें ग्राह्य होती अथवा प्रभावित करती है।

क्यों और किस हद तक आज हमारे देशवासी राम और भरत, लक्ष्मण और सीता के जीवनादर्शों से आकृष्ट और अनुप्राणित हो सकते हैं ?

अवश्य ही जीवन में संभोग का, वासनाओं के सहज-स्वाभाविक उपभोग का, स्थान है, एकान्त निरोध और आत्म-दमन, जीवन के सहज प्रवाह के विरोधी होने के कारण, अस्वास्थ्यकर एवं हेय हैं। इस तथ्य की अकुण्ठित स्वीकृति हमें संस्कृत काव्य में मिलती है। किन्तु साथ ही यह भी जरूरी है कि हमारा व्यक्तित्व वासनाओं के तनाव से मुक्त होकर शान्त भाव से उच्चतर ध्येयों का अनुचिन्तन करे। यह तभी सम्भव होता है जब हमारी रागात्मिका वृत्ति निरुद्ध न होकर उदात्त कार्यों अथवा चरित्रों पर संसक्त हो जाय। धार्मिक काव्य सामान्यतः और 'मानस' विशेषतया हमारी वृत्तियों का इसी प्रकार उन्नयन और परिशोधन करता है।

कहा जा सकता है कि अब रामायण की नैतिक शिक्षायें व्यर्थ हो गईं, क्योंकि आज उन्हें बल देने वाली धार्मिक तथा दार्शनिक मान्यतायें छिन्न-भिन्न हो चुकी हैं। हमारा उत्तर है—नहीं। नैतिकता और चरित्र के वे आदर्श जो *काव्य में प्रतिष्ठित होते हैं केवल युग-विशेष की मान्यताओं के कारण ही ग्राह्य* नहीं होते; उनके आकर्षण की जड़ें ज्यादा गहरी पहुँची रहती हैं। दार्शनिक-धार्मिक मान्यतायें उन आदर्शों के बौद्धिक मण्डन के प्रयत्न-रूप रहती हैं, वे सदैव उनकी ग्राह्यता या सौंदर्य का कारण नहीं होतीं। वस्तुतः नैतिकता और चरित्र के आदर्शों का सम्बन्ध मानवता की जिन माँगों से है वे धार्मिक-दार्शनिक विश्वासों की अपेक्षा अधिक मौलिक और गूढ़ होती हैं। अतः उक्त विश्वासों या मान्यताओं के बदल जाने पर भी उन आदर्शों का आकर्षण एवं महत्त्व बना रहता है। उदाहरण के लिये सीता की राम के साथ वन जाने की तत्परता और राम तथा भरत की राज्य-विषयक निःस्पृहता ऐसे आदर्श हैं जिनका आकर्षण आज के जड़वादी युग में भी कम नहीं हुआ है। वास्तविकता यह है कि दूसरों के लिए त्याग और कष्ट-सहन की तत्परता एक ऐसी वृत्ति है जो मनुष्य की नैतिक प्रकृति को अनिवार्य रूप से खींचती है। प्रत्येक युग और जीवन-दर्शन को इस वृत्ति की वाञ्छनीयता का अपना निराला हेतु बताना पड़ता है—किन्तु जीवन-दर्शन के बदलने का अर्थ उस वृत्ति की वाञ्छनीयता में कमी या परिवर्तन नहीं है। इसलिये पुराने युगों और कवियों द्वारा खींचे हुए त्यागी वीरों के चित्र आज भी हमें आकृष्ट करते और हमारा नैतिक परिष्कार करते हैं। अतएव तुलसी द्वारा उपस्थित राम, सीता, भरत आदि के चित्र युग-युग तक हमारे देशवासियों की मनोवृत्ति को संस्कृत एवं उदात्त बनाते रहेंगे।

अवश्य ही आचरण के कुछ आदर्शों में स्थायी परिवर्तन भी होता है। यवनों से आक्रान्त हिन्दुओं को तुलसी ने यह शिक्षा दी कि वे भगवान की शरण में पहुँचकर, भगवद्भक्ति द्वारा, शान्ति और शक्ति प्राप्त करें। आज शायद यह शिक्षा ग्राह्य और उपयोगी नहीं रह गई है—आज सम्भवतः ईश्वर में विश्वास भी शिथिल होने लगा है। क्षुद्र स्वार्थपरता से बचने के लिये आज हमें ईश्वर-विश्वास से भिन्न किसी दूसरी प्रेरणा की अपेक्षा होगी। इस प्रकार की प्रेरणा देने का काम आज के नये युग के साहित्यकारों का होगा। इन नये साहित्यकारों का जीवन-दर्शन भी भिन्न होगा। किन्तु जब ये साहित्यिक नये युग के उपयुक्त नवीन नैतिकता (अर्थात् आत्म-सुख की अवहेलना और दूसरों के लिये कष्ट-सहन की भावना) के प्रेरक चित्र खींचेंगे, तो वे अनिवार्य रूप से देश की 'मानस' जैसी संस्कृति की विभूतियों से प्रभावित और अनुप्राणित होंगे।

९

तुलसी और भारतीय संस्कृति

[प्रत्येक वर्ष तुलसी जयन्ती के अवसर पर लेखक को तुलसी के बारे में कुछ सोचने और कहने का अवसर मिलता है। इस निबन्ध में कुछ विचारों का संग्रह है। जिन्होंने लेखक के कुछ भाषण सुन हें, उन्हें यहाँ विशेष नवीनता की आशा नहीं करनी चाहिये।]

भारतीय संस्कृति तथा हिन्दू संस्कृति समानार्थक न होते हुए भी बहुत-कुछ अभिन्न हैं। हिन्दू संस्कृति के अतिरिक्त हमारे देश में महत्वपूर्ण बौद्ध संस्कृति का भी जन्म एवं विकास हुआ। किन्तु कालान्तर में बौद्ध संस्कृति इस देश से लुप्त-प्राय हो गई; अपनी जन्म-भूमि से निर्वासित होकर उसने विदेशों में विजय-पताका फहराई। किन्तु वास्तव में बौद्ध संस्कृति भारतवर्ष से निर्वासित नहीं हुई; उसके महत्वपूर्ण अंश स्वयं हिन्दू संस्कृति का अंग बन गये। हिन्दुओं ने बौद्धों के अहिंसावाद को पूर्णतया अपना लिया, यहाँ तक कि बुद्ध जी की गणना दस अवतारों में भी कर डाली।

बौद्ध संस्कृति के अतिरिक्त अन्य स्रोतों तथा शक्तियों से भी हिन्दू संस्कृति को समृद्धि एवं विस्तार प्राप्त हुआ है। हिन्दुओं की पौराणिक एवं वर्ण-व्यवस्था-मूलक संस्कृति आर्यों की मूल वैदिक संस्कृति से प्रभावित होते हुए भी उससे भिन्न है। बौद्ध धर्म एवं बौद्ध विचारकों के अतिरिक्त उक्त हिन्दू-संस्कृति पर हिन्दी आदि भाषाओं के समूचे इतिहास में बिखरे हुए सन्तों के उपदेशों एवं काव्य का भी निश्चित प्रभाव पड़ा है। हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के अधिकांश सन्त कवि जात-पाँत अथवा वर्ण-व्यवस्था के विरोधी एवं सीधी, सरल उपासना-पद्धति के पक्षपाती रहे हैं।

तुलसीदास भी एक सन्त कवि हैं। किन्तु वे ब्राह्मण-धर्म के मर्यादावादी सन्त हैं। वे वर्ण-व्यवस्था के अन्यतम पोषक एवं संरक्षक हैं, यद्यपि, भक्ति-मार्गी होने के नाते, वे जात-पाँत को उतना अधिक महत्त्व नहीं देते। वस्तुतः तुलसी

के व्यक्तित्व और काव्य मे पौराणिक धर्म-भावना की प्रधानता होते हुए भी सन्तों की उदारता एवं विशाल-हृदयता पाई जाती है। साथ ही उन पर संस्कृत काव्य की परम्परा एवं उसमें प्रतिफलित संस्कृति का भी प्रभाव है।

२

सांस्कृतिक दृष्टि से हमारा देश काव्य-प्रधान देश कहा जा सकता है। इस देश में संख्या एवं गुण दोनों के हिसाब से बहुत अधिक कवि हुए हैं। कालिदास ने अपने एक नाटक की प्रस्तावना में तीन पुराने नाटककारों—भास, सौमिल्ल तथा कविपुत्र—का उल्लेख किया है जिनमें से केवल एक की रचनायें उपलब्ध हैं। कालिदास से पहले हमारे देश में वाल्मीकि, व्यास, एवं अश्वघोष जैसे श्रेष्ठ कवि हो चुके थे। कालिदास के बाद संस्कृत में अनेक विख्यात कवि तथा नाटककार गद्य तथा पद्य दोनों में साहित्य-रचना करते पाये जाते हैं। संस्कृत-काव्य के बाद यदि हम हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डालें तो भी वैसी ही स्थिति मिलती है। भारतीय भाषाओं से सम्भवतः हिन्दी का काव्य-साहित्य सबसे अधिक समृद्ध है। चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, दादूदयाल, सुन्दरदास, सूर, तुलसी, घनानन्द, बिहारी, देव आदि दर्जनों कवियों ने हिन्दी-काव्य को विस्तृत एवं सम्पन्न बनाया। दिल्ली एवं लखनऊ के बीच सौदा, मीर, ग़ालिब आदि उर्दू के भी दर्जनों सिद्ध कवि उत्पन्न हुए हैं।

किन्तु हम इन सभी कवियों की जयंतियाँ नहीं मनाते। जयंतियाँ मुख्यतः हम उन कवियों की मनाते हैं जिन्होंने हमारे देश की संस्कृति को अभिव्यक्ति एवं रूप दिया है। ऐसे कवियों में हम तीन के नाम विशेष रूप में ले सकते हैं; ये तीन कवि कालिदास, तुलसीदास एवं आधुनिक काल में रवीन्द्रनाथ हैं। इन कवियों के कृतित्व का विशेष अध्ययन करके हम भारतीय, विशेषतः हिन्दू-संस्कृति के, बदलते एवं विकासमान रूप को स्पष्ट रूप में देख और समझ सकते हैं। कालिदास से रवीन्द्र के समय तक हिन्दू-संस्कृति में जो विराट परिवर्तन हुआ है, उसे समझने के लिये हमें उन तुलसी के काव्य पर दृष्टि डालनी होगी जो एक साथ ही भक्त, सन्त तथा वर्णाश्रम धर्म के अन्यतम प्रवक्ता थे। इन कवियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हम यह भी जान सकते हैं कि कालिदास से तुलसी तक एवं तुलसी से रवीन्द्र तक भारतीय संस्कृति किस प्रकार उन्नति तथा अवनति की विभिन्न दिशाओं में अग्रसर होती रही है। इस अध्ययन से सम्भवतः हमें यह सोचने में भी मदद मिलेगी कि हमारे स्वतन्त्र देश का सांस्कृतिक विकास अब किन दिशाओं में हो सकता है।

३

मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है। अपनी जीवन-यात्रा में वह अपने अतीत को ढोते हुए चलता है। सच पूछिये तो अतीत से व्यतिरिक्त मानव-जीवन के वर्तमान का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं, वह बहुत-कुछ अतीत में सम्पादित किये हुए कृत्यों एवं एकत्रित किये हुए संवेदनों तथा ज्ञान का पुञ्ज-मात्र है; हम ने अब तक जिन वासनाओं एवं संकल्पों का अनुभव और पूर्ति की है वे ही हमारे व्यक्तित्व का प्रधान अंग है। हम किसी ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें विगत जीवन के विविध अनुभवों की स्मृति नष्ट हो चुकी है। किसी जाति के जीवन में अतीत की सांस्कृतिक धरोहर का वही स्थान है जो व्यक्ति के जीवन में उसकी सैकड़ों स्मृतियों का होता है। भेद यही है कि जहाँ व्यक्ति की स्मृतियाँ उसके जीवन के साथ समाप्त हो जाती हैं, वहाँ जातीय स्मृति अर्थात् सांस्कृतिक धरोहर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रान्त होती हुई बहुत-कुछ अमर बनी रहती है।

अतः समृद्ध सांस्कृतिक जीवन के लिए प्रत्येक जाति एवं व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अतीत की संस्कृति को आत्मसात् करते हुए आगे बढ़े। ज्ञान अथवा संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में, इसीलिए, "क्लासिक्स" का गहरा अध्ययन आवश्यकीय है। बात यह है कि सांस्कृतिक धरोहर हमें वंशानुक्रम से, वर्ण एवं आकृति तथा बुद्धि की भाँति, शारीरिक तत्त्वों में प्राप्त नहीं होती; उस धरोहर को हम शिक्षा अथवा बौद्धिक प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि हम वाल्मीकि, कालिदास, सूर-तुलसी आदि महाकवियों का मनोयोग से अध्ययन करें। वैसे अध्ययन के बिना हम न अपनी काव्य-संवेदना का ही ठीक से विकास कर सकते हैं, न जीवन के विभिन्न पक्षों एवं रूपों की समृद्ध चेतना ही प्राप्त कर सकते हैं। निष्कर्ष यह कि अतीत की सांस्कृतिक लब्धियाँ, विशेषतः वे ऊँची लब्धियाँ जिन्हें देश के संस्कृत मस्तिष्क ने सदियों से प्रयत्न-पूर्वक सुरक्षित रखा है, आज के सभ्यताभिलाषी मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति हैं। अपने को पूर्ण रूप से संस्कृत एवं सभ्य बनाने के लिए हमें अपने देश की नहीं अपितु विश्व के सभी उन्नत राष्ट्रों की सांस्कृतिक विरासत को आत्मसात् करके अग्रसर होना पड़ेगा।

हमने कहा कि अतीत का सांस्कृतिक वैभव हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति एवं शक्ति है। यदि यह वैभव किसी कारण से नष्ट हो जाय तो मनुष्य को अपनी सांस्कृतिक यात्रा फिर से शुरू करनी पड़ेगी—क्योंकि उस दशा में वह अपने उन आदिम पूर्वजों से, जो अर्धनग्न अवस्था में घूमते हुए अपने भौंडे हथि-

थारों से शिकार करके निर्वाह करते थे, विशेष भिन्न नहीं रहेगा। किन्तु हमें उक्त सचाई के साथ ही एक दूसरे सत्य पर भी गौरव देना है। अतीत संस्कृतियाँ हमारी सम्पत्ति एवं शक्ति ही नहीं, हमारी विपत्ति एवं अशक्ति भी बन सकती हैं। अतीत की ज्ञान-राशि, रूढ़ियाँ एवं प्रथायें जहाँ एक ओर हमारे जीवन को पशुत्व की भूमिका से निकाल कर संस्कृत मनुष्यता के धरातल पर प्रतिष्ठित करती हैं, वहाँ वे हमारे जीवन को अवांछनीय परंपरा से बांध कर हमारी उन्नति में बाधा भी डालती हैं। वह जाति अभागी हो सकती है, होती है, जिसे प्राचीन संस्कृति की धरोहर प्राप्त नहीं है; किन्तु वह जाति भी कम अभागी नहीं होती जिसके अतीत संस्कार उसे बेतरह जकड़कर अपने जीवन को वर्तमान के अनुकूल बनाने में बाधक होते हैं। इतिहास में ऐसा सैकड़ों बार हुआ है जब प्राचीन विचारकों एवं सिद्धान्तों के नाम पर समकालीन नये चिन्तकों को अपना सुपरीक्षित मंतव्य प्रकट करने से रोका गया है। पश्चिम में प्लेटो तथा अरस्तू के नाम पर तथा स्वदेश में वेदों तथा स्मृतियों की दुहाई देकर अक्सर नये विचारक को निरुत्साहित ही नहीं, दण्डित किया गया है। इसे एक आश्चर्य ही समझना चाहिये कि हमारे देश में बृहस्पति एवं चार्वाक जैसे नास्तिक विचारकों को अपनी बात कहने दी गई, यद्यपि उनके ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। यह भी हमारा सौभाग्य है कि हमारे देश में वेदों तथा उपनिषदों का प्रामाण्य न मानने वाले बौद्ध तथा जैन विचारक हुए। यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दू दर्शन ने प्रायः तभी तक विशेष उन्नति की जब तक देश में उसका विरोध करने वाले बौद्ध दार्शनिक मौजूद थे। बौद्ध धर्म के लोप के साथ-साथ ही हिन्दू दर्शन का स्वर्ण-युग भी समाप्त हो गया। इसके विपरीत हम पाते हैं कि योरप में परंपरा का विरोध करने वालों को तरह-तरह की शारीरिक यातनायें दी गईं। आधुनिक योरप में स्वतन्त्र चिन्तन का प्रारम्भ प्रायः पुनर्जागृति के समय से होता है। पिछली तीन-चार शताब्दियों में योरप ने जो तेजी से सांस्कृतिक प्रगति की है, उसका एक प्रमुख हेतु उसकी बौद्धिक स्वतन्त्रता भी रही है

तात्पर्य यह कि अतीत के बड़े-से-बड़े विचारकों एवं कलाकारों के हाथ हमें अपनी सारी मानसिक स्वतंत्रता नहीं बेच देनी चाहिये, और न हमें उनकी मान्यताओं को आँख मूँद कर ग्रहण ही कर लेना चाहिये। अनिवार्य रूप से मूल्यांकन के सारे पैमाने हम अतीत "क्लासिक्स" का अध्ययन करके प्राप्त करते हैं, किन्तु आवश्यक रूप में उन पैमानों का प्रयोग हमें इस प्रकार करना चाहिये कि हम अतीत के महान् शिक्षकों से वही प्रेरणायें लें जो हमारे जीवन-

विकास को आगे बढ़ाने वाली हैं। इस प्रकार के मूल्यांकन की संभावना इस परिस्थिति में निहित है कि केवल अपने देश के तथा विभिन्न देशों के अतीत में अनेक श्रेष्ठ कलाकार, शिक्षक एवं विचारक हुये हैं, जिन्होंने अक्सर एक-दूसरे के विरोधी सिद्धान्त तथा आदर्श उपस्थित किये हैं। महापुरुषों एवं इतिहास के विभिन्न युगों का तुलनात्मक अध्ययन करके ही हम उनका समुचित मूल्यांकन करते हुये उनसे जीवनदायिनी प्रेरणायें ले सकते हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुये हम कालिदास और तुलसी तथा, कुछ हद तक, रवीन्द्र के सांस्कृतिक आदर्शों पर तुलनात्मक दृष्टि डालेंगे।

४

महाकाव्यकार होने के नाते कालिदास तथा तुलसी दोनों ने आदर्श अथवा वांछनीय जीवन के पूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। कालिदास के युग से तुलसी के समय तक भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि में कितना वृहत् परिवर्तन हुआ इसका स्पष्ट एवं विस्तृत निदर्शन "'रघुवंश" एवं "रामचरित मानस" में प्रतिफलित जीवन-दर्शन हैं। एक प्रकार से ये दोनों ही कवि आदर्शवादी हैं, दोनों ने आदर्श नायकों तथा पात्रों का चरित्र-गान किया है। किन्तु बड़े-से-बड़ा आदर्शवादी कलाकार बरबस अपने युग के यथार्थ को अभिव्यक्ति देता है—बड़ी-से-बड़ी आदर्श'दृष्टि अन्ततः यथार्थ से आकलित तत्त्वों के मेल से ग्रथित या निर्मित होती है। इसीलिये हम कालिदास तथा तुलसी के काव्यों में सम-सामयिक आदर्शों तथा वास्तविकताओं दोनों का ही परिचय पा सकते हैं।

इक्ष्वाकु अथवा रघु के वंश में उत्पन्न नर-वीरों का वर्णन कालिदास ने कुछ इस प्रकार किया है। 'जन्म से मरण तक वे शुद्ध जीवन व्यतीत करते थे; जब तक फल प्राप्ति न हो तब तक कर्म में जुटे रहते थे; विधि-पूर्वक यज्ञादि कर्म करते थे; याचकों की प्रार्थनाओं को पूरा करते थे; अपराध के अनुपात से दण्ड देते थे; समय पर जागते थे; त्याग के लिये सम्पत्ति इकट्ठी करते थे; सत्य के लिये मित भाषी थे। वे यश के लिये विजय चाहते थे और संतान के लिये विवाह करते थे; बालकपन में विद्याभ्यास करते थे; यौवन-काल में विषयों की इच्छा करते थे; वृद्धावस्था में मुनियों की तरह रहते थे, और अन्त में योग-द्वारा शरीर-त्याग करते थे।' राजा दिलीप, 'निर्भय होकर अपनी रक्षा करता था; रोग-हीन रहकर धर्मानुष्ठान करता था; बिना लोभ के अर्थ-संचय और बिना आसक्ति के सुखों का अनुभव ज्ञान रहते हुये भी वह मौन रहता था शक्ति रहते हुए भी क्षमाशील था; त्यागी (दानी) होते हुये भी वह आत्मश्लाघी नहीं था। उसे विषय आकृष्टनहीं करते थे, वह पारदर्शी विद्वान था और उसकी

धर्म में अभिरुचि थी—इसलिये, बुढ़ापे के बिना ही वह वयोवृद्ध था। समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी पर वह ऐसी सरलता से शासन करता था, जैसे समस्त भूमण्डल एक नगरी मात्र हो...जब वह वशिष्ठ के आश्रम को जा रहा था तो उसके साथ बहुत से आदमी नहीं थे, फिर भी उसके तेज के कारण लगता था जैसे वह सेना से घिरा हुआ हो...वास्तव में सेना तो उसकी शोभा के लिये थी; उसके प्रयोजनपूर्ति के साधन तो दो ही थे, शास्त्रों में अकुण्ठित गति रखने वाली बुद्धि और धनुष पर चढ़ी हुई डोरी।'...'गजगामी रघु ने पिता के सिंहासन तथा शत्रुओं के मण्डल को एक साथ ही आक्रान्त कर लिया। यद्यपि पृथ्वी मनु आदि बहुत से राजाओं द्वारा उपभुक्त हो चुकी थी, फिर भी लगता था जैसे वह रघु के लिये एकदम नवीन बन गई है। रघु न अधिक कठोर था, न अत्यधिक कोमल; वह दक्षिण के उस वायु के समान था, जिसमें न ज्यादा ठंडक रहती है, न अधिक गर्मी।' रघु दिग्विजय करता हुआ उत्तर दिशा में पहुँचा; 'वहाँ उसने हूणों के बीच इतना पराक्रम किया कि उनकी स्त्रियाँ अपने शरीर का ताड़न तथा विलाप करती हुई कपोल आदि अंगों रक्ताभ हो।'...

इंदुमती के स्वयंवर में एकत्रित राजाओं की विलास-चेष्टाओं का कालिदास ने रस के साथ विशद वर्णन किया है। राजा लोग विलासी हैं, साथ ही वे एक विशेष प्रकार की श्री एवं ऐश्वर्य-जन्य कान्ति के अधिष्ठाता भी हैं।

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्य
सहस्रधात्मा व्यरुचदविभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव।

राजाओं की उस कतार में सौंदर्य-श्री ने अपने देदीप्यमान, अतएव कठिनता से देखे जाने योग्य, रूप को मानो सहस्रशः विभक्त करके स्थापित कर दिया था, उसी तरह जैसे विद्युत अपने को मेघों की पंक्ति में विभक्त कर देती है।

दशरथ को जब शिकार खेलने की इच्छा हुई, तो मन्त्रियों ने उनसे मृगया के गुणों का वर्णन इस प्रकार किया—'मृगया के द्वारा भागते हुए लक्ष्य के बेधने का अभ्यास होता है; जन्तुओं की भय-रोषादि मुद्राओं का परिज्ञान होता है; तथा व्यायाम के कारण शरीर में फुर्ती आती है।'

ऊपर हमने कालिदास द्वारा किये हुये रघुवंशी वीरों के विभिन्न वर्णनों का संकेत देने का प्रयत्न किया है। इन वर्णनों में, पाठक देखेंगे, राजाओं के जीवन के प्रायः सभी अंगों का समावेश है। कालिदास के आदर्श राजा सफल एवं कर्मठ शासक हैं; जीवन के प्रति उनमें, स्वस्थ उपभोग का दृष्टिकोण है। वे

आत्म-निर्भर, तेजस्वी पुरुष-पुंगव हैं, और उन सब गुणों से विभूषित हैं जो उनके विजयोल्लसित, प्रभावशाली जीवन एवं व्यक्तित्व के लिए अपेक्षित हैं।

सन्त तुलसीदास ने मानव-जीवन के आदर्श को दो प्रकार के पात्रों में चित्रित किया है, एक स्वयं राम के व्यक्तित्व में और दूसरे राम-भक्तों के। वस्तुतः 'रामचरित मानस' के अधिकांश पात्र राम-भक्त हैं, और उनके चरित्र के मूल्यांकन का कवि के पास मुख्य पैमाना उनकी राम-भक्ति है। इसी पैमाने के अनुसार वे व्यक्ति जो राम-भक्त नहीं हैं अधम या अवांछनीय हैं। 'रामचरित मानस' की इस बात के लिए प्रशंसा की जाती है कि उसमें पिता-पुत्र, भाई-भाई आदि के पारस्परिक सम्बन्धों का उज्ज्वल रूप सामने रखा गया है, किन्तु ज्यादा सच बात यह है कि इन सम्बन्धों के बीच भी कवि ने मुख्यतः राम-भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। माता होने के नाते भरत को राज्य दिलाने का प्रयत्न करके कैकेयी ने कोई बड़ा अपराध नहीं किया—सम्भवतः अनुरक्त दशरथ उसे वैसा वचन भी दे चुके थे—किन्तु 'मानस' में कहीं इस तथ्य को लेकर कैकेयी की सराहना नहीं की गई है, और न भरत को माता की अवज्ञा करने के लिए कहीं दोषी ही ठहराया गया है। कारण स्पष्ट है—तुलसी की दृष्टि में सबसे बड़ा गुण राम-भक्ति है और सबसे बड़ा अवगुण राम-दोष—

जाके प्रिय न राम बैदेही
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

'मानस' में भरत की महिमा मुख्यतः इसलिये है कि वे राम के सबसे बड़े अनन्य भक्त हैं। राम-भक्ति के अतिरिक्त भरत का दूसरा मुख्य गुण यह है कि वे लौकिक भोगैश्वर्य के प्रति एकदम उदासीन हैं।

भरतहिं होइ न राजमद विधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि कांजी सीकरनि छीर सिंधु बिलगाइ॥

भरत स्थितप्रज्ञ हैं संसार के हानि-लाभों से पूर्णतया विरक्त। राम भी प्रायः वैसे ही हैं, अभिषेक की सूचना से वे प्रसन्न नहीं होते और वनवास की आज्ञा से मलिन या खिन्न नहीं होते। यश की कामना से विजय-अभियान करने वाले कालिदास के रघुवंशियों से वे कितने भिन्न हैं! संत तुलसीदास ने सूर्य-वंशी राम और भरत को भी तपस्वी, साधु-ब्राह्मणों जैसा बना डाला है! कालिदास ने अपने नायकों की दर्जनों विशेषताओं का सूक्ष्म अंकन किया है, तुलसीदास ने राम के केवल उन गुणों का विशेष उल्लेख किया है जो उनकी भलमनसाहत प्रमाणित करते हैं। राम की अनुपस्थिति में भरत ने अनेक वर्षों तक अयोध्या का राज्य सँभाला, किन्तु भरत में एक सफल शासक के कितने

गुण थे इसका कोई उल्लेख 'रामचरितमानस' में नहीं है। कालिदास ने दिलीप के सम्बन्ध में लिखा है,

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः।
भीमकान्तै र्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादो रत्नैरिवार्णवः।

'चौड़े वक्षःस्थल एवं पुष्ट कन्धों वाला, शाल-वृक्ष की भाँति लम्बा, मूर्तिमान क्षात्र-धर्म की भाँति वह राजा अपने कर्म के योग्य शरीर को अधिष्ठित किये हुए था। उसमें भयानक तथा मनोज्ञ दोनों ही प्रकार के नृपोचित गुण थे; भयंकर जन्तुओं तथा रत्नों से सम्पन्न समुद्र की भाँति वह अधृष्य (जिसका कोई अपमान न कर सके) एवं अभिगम्य (जो आश्रय लेने योग्य हो) दोनों ही था।'

तुलसीदास के राम और लक्ष्मण पराक्रमी अवश्य हैं। क्योंकि तुलसी भारतीय काव्य की परम्परा से परिचित थे इसलिए उन्होंने स्वभावतः उक्त पात्रों में शौर्य की प्रतिष्ठा की। किन्तु कुल मिला कर तुलसी के द्वारा किये हुए राम के वर्णन उनके सौंदर्य और शील का ही विशेष उद्घाटन करते हैं। राम के व्यक्तित्व में राजोचित भीमगुणों का समावेश नहीं है। भक्त तथा प्रेमी तुलसीदास को राम मुख्यतः शारीरिक एवं नैतिक सौष्ठव का अधिष्ठान दिखाई देते हैं। सच यह है कि तुलसी के समय की हिन्दू जनता उस ज्ञान तथा चेतना से प्रायः शून्य थी जो एक स्वतंत्र, आत्म-निर्भर जाति को स्वायत्त शासन के योग्य बनाती है।

'विनय-पत्रिका' में तथा अन्यत्र भी तुलसी ने जगह-जगह अपनी हीनता, अधमता आदि का बखान किया है। प्रकारान्तर से यह हीनता-भावना उस समय की हिन्दू जनता की अवनत अवस्था को प्रकट करती है। उस जनता में सम्भवतः आत्म-विश्वास का इतना ह्रास हो गया था कि वह भगवान के अवलम्बन के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा देखती ही न थी। जहाँ कालिदास के उन्नत युग में अपनी बुद्धि एवं अपने बल पर भरोसा रखना श्लाघ्य समझा जाता था, वहाँ तुलसी के समय में मनुष्य का सबसे आवश्यक गुण ईश्वर पर निर्भर होना बन गया था।

हमारे वक्तव्य का यह मतलब नहीं कि हम तुलसी को उनके आदर्शों के लिये दोषी ठहरा रहे हैं। भक्त तुलसीदास ने पददलित हिन्दू जाति को जो सन्देश एवं शिक्षा दी वह उस युग की आवश्यकताओं एवं मनोवृत्तियों के अनुकूल थी। दूसरा रास्ता यह था कि तुलसीदास हिन्दू जाति के सम्मुख वह आदर्श

रखते जो बाद में शिवाजी ने रखा। कुछ भी हो, देखने की बात यह है कि तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित ईश्वर भक्ति, ईश्वर-निर्भरता आदि के आदर्श आज हमारे लिये अग्राह्य ही नहीं, हानिकर भी हैं।

५

एक दृष्टि से सन्त परम्परा के कवियों ने हमारी सांस्कृतिक दृष्टि को वाञ्छनीय प्रौढ़ता भी प्रदान की। कालिदास के युग में इस देश के लोगों में अपनी विजयों तथा सफलताओं की स्मृति ही प्रधान थी। सम्भवतः कालिदास से कुछ ही पहले भारतीय सेनाओं ने शकों, हूणों आदि को पराजित किया था। किन्तु जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में दुःखों एवं संकटों की अनुभूति के बिना मनुष्य प्रौढ़ जीवन-विवेक को प्राप्त नहीं कर पाता, वैसा ही जातीय-जीवन में भी होता है। एक परिपूर्ण संस्कृति में सुख-दुःख, हार-जीत आदि सभी अवसरों का सामना करने लायक बुद्धि-बल तथा आत्म-बल होना चाहिये। सन्तों का काव्य प्रायः हिन्दुओं की हीनावस्था में लिखा गया है, अतः उसकी प्रमुख विशेषता यह है कि वह हमें विपत्ति में धैर्य एवं सन्तुलन न खोने का सन्देश देता है। तुलसी के राम और भरत हमें गीतोक्त स्थितप्रज्ञता के आदर्श की पुनः याद दिलाते हैं, मानो उनके द्वारा तुलसी हिन्दू जनता को यह सन्देश दे रहे हों कि एक महान् जाति के जीवन में राज-शक्ति का हस्तान्तरित होना बहुत ज्यादा महत्त्व की बात नहीं हैं। मानवता का इतिहास भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है। प्रायः डेढ़ सौ वर्ष राज्य करके अंगरेज लोग भारतवर्ष से विदा हो गये। महत्वपूर्ण होते हुए भी यह घटना भारतवर्ष के इतिहास में उतनी महत्वपूर्ण नहीं है। ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि किस प्रकार, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, हम अपनी संस्कृति का पुनरुज्जीवन एवं पुनर्निर्माण करते हैं।

संत परम्परा का आज भी हमारे ऊपर गहरा प्रभाव है। अपने लम्बे इतिहास में हमारा देश प्रायः कभी भी एक आक्रामक राष्ट्र नहीं रहा है। देश की संस्कृति पर इस प्रकार का प्रभाव डालने वाले बौद्ध ही नहीं, हमारे उपनिषद् भी हैं। हमारे संत कवि तथा शिक्षक सदा से इस बात पर गौरव देते आये हैं कि सांसारिक संपत्ति एवं भोगों में मनुष्य को अधिक आसक्त नहीं होना चाहिए और इतना आसक्त तो हरगिज नहीं कि उनके लिए दूसरे व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों पर अन्यायपूर्ण हमला करे। आधुनिक काल में अपनी 'नेशनेलिज़म" (राष्ट्रवाद) पुस्तक में रविबाबू ने इस बात पर जोर दिया कि आक्रमण-मनोवृत्ति से सहचरित राष्ट्रवाद मानवता की शान्ति तथा सुख के लिए बाधक है। इस प्रकार हम रवीन्द्र के विचारों तथा गांधी के क्रिया-कलापों में सन्तों की

सांस्कृतिक दृष्टि एवं शिक्षाओं का प्रभाव देख सकते हैं। कालिदास के नायक यश के लिए विजय की कामना करते थे; तुलसी के राम तथा आज के भारतीय नेता हमें केवल अन्याय के प्रतिकार के लिए ही शस्त्र उठाने की छूट देना चाहते हैं। निष्कर्ष यह है कि तुलसी जैसे प्रतिनिधि कवियों के अध्ययन के बिना हम न तो भारतीय संस्कृति को ही ठीक से समझ सकते हैं और न आज के भारतवर्ष को।

लेकिन आज केवल सन्तों की शिक्षा हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हम आक्रामक न बनें, यह ठीक है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी लौकिक उन्नति की उपेक्षा करें। इस दृष्टि से रवीन्द्र तथा सन्त कवियों, दोनों की अपेक्षा कालिदास एवं संस्कृत कवि हमारा ज्यादा ठीक पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं।

: १० :

प्रयोगवादी काव्य—विश्लेषण और सुझाव

काव्य-साहित्य के क्षेत्र में नये प्रयोग और आन्दोलन बराबर होते आये हैं। उदाहरण के लिए यदि हम योरप के पिछले तीस-पैंतीस वर्ष के साहित्य को लें, तो हम पायेंगे कि वहाँ प्रत्येक दस वर्ष में एक नया आन्दोलन खड़ा हो जाता है। उन्नीसवीं सदी के योरप में भी रोमांटिक साहित्य का प्रभावशाली आन्दोलन चला था। अपने देश में, और विशेषतः हिन्दी भाषी प्रान्तों में, पिछले तीन दशकों में कम-से-कम तीन वाद या आन्दोलन उठते दिखाई दिये हैं, अर्थात् छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद। अन्तिम दो छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्थित हुए हैं। प्रथम महायुद्ध से सन् पैंतीस तक प्रायः छायावाद की प्रधानता का युग था। उसके बाद क्रमशः प्रगतिवादी आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया जो आज भी एक प्रवृत्ति और आन्दोलन के रूप में जीवित है। तीसरी प्रयोगवादी धारा का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से समझना चाहिए। सन् १९४३ में "तार सप्तक" के प्रकाशन के साथ इस धारा ने आलोचकों तथा पाठकों का ध्यान विशेष रूप में आकृष्ट किया।

यहाँ हम प्रयोगवादी काव्य अथवा प्रयोगवाद की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं करेंगे। हम मान लेंगें कि हम साधारणतया उसके स्वरूप या शैली से परिचित हैं। संक्षेप में प्रयोगवादी कविता के छन्द-विधान, शब्द-चयन, अलंकार-योजना तथा संवेदना सभी में नवीनता या निरालापन दिखाई देता है। प्रयोगवाद का सम्बन्ध किसी विशिष्ट जीवन दर्शन या जीवन दृष्टि से उतना नहीं जान पड़ता जितना कि शैलीगत विशेषताओं से। यों तो अनेक प्रयोगवादी कवि अपने को मार्क्सवाद का समर्थक अथवा प्रगतिवादी भी कहते हैं।

प्रश्न यह है कि इस प्रयोगवाद के प्रेरणा स्रोत क्या हैं? वह किन देशी-विदेशी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विचार-सरणियों अथवा साहित्यिक शैलियों से प्रभावित हुआ है, और इसका अपने युग अथवा युग-जीवन से क्या सम्बन्ध है?

कहा जाता है, और यह ठीक भी है, कि काव्य-साहित्य का विषय जीवन है। इससे अनुगत होता है कि सब प्रकार के साहित्य की प्रेरणा जीवन से आनी चाहिए। यह ठीक है, किन्तु जीवन जैसी जटिल वस्तु के स्वरूप और सीमाओं का निर्धारण सहज नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य की प्रेरणा युग-विशेष का अपना जीवन होता है, या होना चाहिए। किन्तु युग-विशेष के जीवन की परिभाषा करना भी दुष्कर काम है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि आज की दुनिया में जीवन की दो प्रमुख व्यवस्थाएँ वर्तमान हैं, एक पूँजीवादी दूसरी, समाजवादी। किन्तु जीवन के अन्तर्गत युद्ध और शान्ति तथा जाति-भेद की समस्याएँ भी मौजूद हैं, और ये समस्याएँ हमें बुद्ध तथा गांधी जैसे शिक्षकों का स्मरण दिलाती ह। जीवन केवल आर्थिक एवं वर्गगत सम्बन्धों का ही पर्याय नहीं है, उसके भीतर पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, आस्तिकता-नास्तिकता आदि दसियों समस्याएँ और उनके समाधान के प्रयत्न समाविष्ट रहते हैं।

मतलब यह कि मानव-जीवन के अनेक पहलू हैं, जो विचारकों तथा साहित्यकारों को भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रेरणा देते रहते हैं। अतः हमें देखना चाहिए कि हमारे युग-जीवन के वे कौन से पक्ष हैं जो प्रयोगशील साहित्यकारों को प्रेरणा दे रहे हैं।

नर-विज्ञान के पंडितों का विचार है कि मनुष्य अनुकरण से जितना सीखते हैं उसकी तुलना में स्वतन्त्र उद्भावना का अंश जीवन में कम ही रहता है। हमारे देश का साहित्य, अंग्रेजों से सम्पर्क होने पर, अक्सर योरपीय साहित्य से प्रभावित होता रहा है। उदाहरण के लिए रवीन्द्र के तथा छायावादी काव्य पर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों का विशेष प्रभाव पड़ा। इसी तरह प्रयोगवादी काव्य पर भी योरपीय साहित्य का प्रभाव पड़ा है।

इस समय हमारे साहित्य पर योरप का प्रभाव दो रूपों में दिखाई देता है। जिन्हें हम प्रगतिवादी लेखक कहते हैं वे रूसी साम्यवाद की विचारधारा से विशेष प्रभावित हैं। इन लेखकों का एक स्वीकृत जीवन-दर्शन है, जीवन के प्रति एक सुनिश्चित दृष्टिकोण है। कई तथाकथित प्रयोगवादी लेखक मार्क्स-वादी भी हैं। ये लेखक केवल काव्य के रूप या शैली की दृष्टि से ही प्रयोग-वादी कहे जा सकते हैं। कम-से-कम वे अपने को अप्रगतिशील कहने को तैयार नहीं हैं।

किन्तु वास्तविकता यह है कि काव्य की विषय-वस्तु और रूप को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। एक विशेष शैली एक विशिष्ट संवेदना को ही

प्रकट कर सकती है। फलतः वे लेखक जो प्रयोगवादी होते हुए भी अपने को प्रगतिवादी कहते हैं वस्तुतः वैसा काव्य नहीं लिख पाते जिसे प्रगतिवादी कहा जा सके, अर्थात् ऐसा काव्य-साहित्य जो सुबोध शैली में सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करे। इसलिए व्यवहार मे उन प्रयोगवादियों को जो प्रगतिवादी हैं या कहलाना चाहते हैं, दूसरे प्रयोगवादियों से जो अपने को प्रगतिवादी नहीं कहते, भिन्न करना कठिन हो जाता है।

स्वयं प्रयोगवादी साहित्यकार अंग्रेजी के इलियट, इज़रा पाउंड, वर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस आदि कवियों तथा कथाकारों से प्रेरणा लेते रहे हैं। इस प्रेरणा का विशिष्ट स्वरूप क्या है ?

एक शब्द में कहें तो इस प्रेरणा का मूलतत्व है—अनास्था, अर्थात् स्वीकृत भावनाओं एवं दृष्टियों के प्रति विद्रोह की भावना। विश्वासी अथवा आस्थावान् लेखक को जीवन की कुछ चीजें ज्यादा महत्वपूर्ण दिखाई देती है, कुछ कम। वैसा लेखक पद-पद पर मूल्यांकन और उस पर आधारित चयन करता चलता है। इस क्रिया में वह आवश्यक रूप में प्राचीन पैमानों का सहारा लेता है। इसके विपरीत उपरोक्त लेखक वैसा कोई आधार लेकर नहीं चलते। वे प्राचीन परम्परायुक्त भावनाओं के स्थान पर नई, अपने युग की, भावनाएँ प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। फलतः वे कोशिश करके शब्दों तथा व्यंजनाओं के पुराने अनु-षंगों को बचाकर चलते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी भाषा और व्यंजनाएँ, उनके अलंकार और मुहावरे, भिन्न तथा अटपटे जान पड़ते हैं। वे उन पाठकों को जिन्होंने अपनी संवेदना का विकास विगत युग या युगों का साहित्य पढ़ कर किया है, दुरूह भी प्रतीत होते हैं।

अपने उपन्यासों में वर्जीनिया उल्फ़ और उससे भी अधिक जेम्स ज्वायस घोर यथार्थवादी दृष्टिकोण से लिखते हैं। वे यथार्थ से चयन नहीं करना चाहते—क्योंकि जीवन में कोई चीज किसी दूसरी चीज से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। पहले के साहित्यकार कुछ चीजों को सुन्दर कहते आये हैं, पर क्या जरूरी है कि आज का साहित्यकार उन्हें सुन्दर या भव्य समझे ? क्यों नहीं वह तथाकथित कुरूप और भव्य को उतना ही महत्व दे ? फलतः प्रयोगवादी कवि कविता के लिये ऊँचे या महत्वपूर्ण समझे जानेवाले विषयों की खोज नहीं करता। उदाहरण के लिये पहले "तारक सप्तक" की कुछ कविताओं के शीर्षक ये हैं—"चूड़ी का टुकड़ा", "रुक कर जाती हुई रात", "भीगा दिन", "चलते-चलते," "मैं और खाली चा की प्याली" इत्यादि।

प्रश्न यह है कि काव्य साहित्य की इन प्रवृत्तियों का हमारे युग-जीवन से

क्या सम्बन्ध है ? क्यों इलियट और पाउंड, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल अथवा गिरिजाकुमार माथुर ऐसे मुहावरे में लिखते है जो पिछले युग की कविता के मुहावरे से एकदम भिन्न है ? इसका उत्तर समझने के लिये हमें उन परिस्थितियों पर दृष्टि डालनी होगी जिन्होंने योरप मे और फिर हमारे यहाँ ऐसे काव्य-साहित्य को जन्म दिया।

इस काव्य के प्रचार से पूर्व जो कविता प्रचलित थी वह मुख्यतः रोमांटिक काव्य था जो आस्था और विश्वास का काव्य है। रोमांटिक कवि को चारों ओर सौन्दर्य का साम्राज्य दिखाई देता है—प्रकृति में, शिशु में, नारी में। हिन्दी के छायावादी काव्य में इसी सौन्दर्य-भावना की प्रतिष्ठा है। रोमांटिक कवि प्रायः सभी यह मानते रहे कि विश्वब्रह्मांड किसी आध्यात्मिक, कल्याणमयी सत्ता की अभिव्यक्ति है। स्वदेश में रवीन्द्रनाथ का काव्य इसी भावना से ओत-प्रोत है।

किन्तु योरप में जब प्रथम महायुद्ध हुआ तो संवेदनशील लेखकों की कोमल विश्वास-भावना को आघात लगा। युद्ध की विभीषिका ने लोगों का हृदय झकझोर दिया। पुराने मूल्यों और विश्वासों में आस्था डगमगाने लगी। इलियट आदि की रचना में इसी विघटित आस्था-भावना का विघटित संवेदना का चित्र है।

यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी का छायावादी काव्य मुख्यतः प्रथम महायुद्ध के बाद ही लिखा गया। जैसे ये कवि जीवन की अपेक्षा काव्य की परम्परा से अधिक प्रभावित थे, रवीन्द्र के काव्य से और रोमांटिक काव्य से। इसी प्रकार हमारे देश में प्रयोगवादी काव्य का उत्थान भी कुछ देर से हुआ है। उस पर भी युग-जीवन की अपेक्षा योरपीय काव्य की परम्परा का अधिक प्रभाव है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि आज के स्वतन्त्र भारत में भी अनास्था और नैराश्य की भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में मौजूद नहीं हैं।

काव्य-साहित्य में प्रायः सभी क्रान्तियाँ साहित्य को जीवन के निकट लाने के लिये होती हैं। इस दृष्टि से वर्डस्वर्थ, शेली आदि रोमांटिक कवि क्रान्तिकारी थे। वे जनतन्त्र की समता, सर्वबन्धुता आदि भावनाओं के गायक थे। वर्ड्स्वर्थ ने इस बात पर गौरव दिया कि कविता की भाषा जन भाषा के निकट होनी चाहिए, और उसमें निबद्ध भावनाएँ भी जनता की भावनाएँ होनी चाहिएँ। इस दृष्टि से प्रयोगवाद भी कविता को जीवन के निकट लाता है। वह कविता को मिथ्या विश्वासों और त्यक्त आदर्शों के आकर्षक शब्द-जाल से मुक्त कर के उसका सम्बन्ध अपने युग से जोड़ना चाहता है। हमारा वर्त्तमान युग यन्त्रों से घिरे और थके हुए जीवन का युग है। आप किसी आफ़िस में जाकर वहां के

क्लर्कों के जीवन का निरीक्षण कीजिए, किसी स्कूल के अध्यापकों के जीवन की परीक्षा कीजिए। आप वहाँ पायेंगे अनवरत काम, अनवरत श्रान्ति और जीवन की किसी उच्चतर परिणति या उज्ज्वल भविष्य में अविश्वास। थका व्यक्ति स्वर्ग तथा मोक्ष की कल्पनाएँ नहीं करता, उसे जीवन और उसकी सारी चीजें साधारण जान पड़ती हैं, अति साधारण। उसे कहीं ईश्वर दिखाई नहीं देता। उसे कुछ पवित्र नहीं लगता, कुछ भी हेय या उपादेय नहीं जान पड़ता। अनवरत परिश्रम उसकी कल्पना-शक्ति और ऊंचे उठने की आकांक्षा को कुंठित कर देता है। प्रयोगवादी काव्य कुछ ऐसी ही कुंठित संवेदना को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। हिन्दी की प्रयोगवादी शैली व्यंग्य-मूलक भावनाओं के प्रकाशन के लिए विशेष उपयोगी है।

हमने कहा कि हमारी साम्प्रतिक अनास्था के मूल में युद्ध-जन्य विभीषिका है। योरप में अनास्था की भावना का एक उत्थान तब हुआ था जब उन्नीसवीं सदी में डार्विन के विकासवाद ने मनुष्य की ईश्वर तथा आत्मा से सम्बन्धित धार्मिक भावनाओं पर आघात किया था। इस आघात की प्रतिक्रिया मैथ्यू आर्नल्ड, टेनीसन आदि कवियों में पाई जाती है। यह नहीं कि डार्विन से पहले योरप में जड़वाद अथवा भौतिकवाद के समर्थक विचारक नहीं हुए थे, अठारहवीं सदी के फ्राँस में अनेक वैसे दार्शनिक हुए तथा उन्नीसवीं सदी में डार्विन से पहले कार्लमार्क्स अपने भौतिक द्वन्द्ववाद का प्रतिपादन कर रहा था। किन्तु डार्विन के सिद्धान्त ने पहली बार भौतिकवाद अथवा नैरात्म्यवाद एवं अनीश्वरवाद को पुष्ट वैज्ञानिक आधार दिया। फलतः इस सिद्धान्त ने धार्मिक जगत में बड़ी हलचल पैदा कर दी।

किन्तु योरप के लोग धीरे-धीरे अनीश्वरवाद से उत्पन्न अनास्था के अभ्यस्त हो गये। परलोक भले ही न हो, लेकिन इस लोक के जीवन को तो सुन्दर बनाया ही जा सकता है। योरप ने जनतंत्र के बड़े-बड़े प्रयोग किये और लम्बी-चौड़ी यांत्रिक तथा औद्योगिक उन्नति की।

उन्नीसवीं सदी में योरप के विचारकों का यह सामान्य विश्वास था कि मानव-जाति लगातार उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रही है; एवं उसके ज्ञान तथा सुख के साधनों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। उन्नीसवीं सदी ने "इतिहास-दर्शन" नामक नये विज्ञान को जन्म दिया। उक्त शताब्दी के दो बड़े इतिहास के विचारक हीगल और कार्लमार्क्स हैं। इन दोनों ही विचारकों का मत है कि मानव-जाति लगातार प्रगति कर रही है। हीगल के अनुसार विश्व की प्रगति का सूत्र आध्यात्मिक शक्तियों के हाथ में है; प्रगति विश्व-ब्रह्माण्ड का

अध्यात्मिक नियम है। मार्क्स के अनुसार इतिहास के नियामक कानून भौतिक एवं ऐतिहासिक है। गत शताब्दी के विचारकों ने डार्विन के विकासवाद की भी प्रगति-मूलक व्याख्या की। मतलब यह कि पिछली शताब्दी की मनोवृत्ति में आशावादी तत्वों का बाहुल्य था।

इसके विपरीत बीसवीं सदी के ऐतिहासिक विचारक, जैसे स्पेंगलर प्रायः निराशावादी हैं। मानवता की निरन्तर प्रगति में विश्वास न रखते हुए ये विचारक इतिहास की चक्रवादी व्याख्यायें देते हैं। इतिहास में उन्नति के बाद अवनति और अवनति के बाद उन्नति के युग आते-जाते रहते हैं। उन्नति या प्रगति मानव-जीवन तथा इतिहास का आवश्यक नियम नहीं है। कहना न होगा कि टी०-एस० इलियट आदि की रचनाओं में इसी निराशावादी मनोवृत्ति की प्रतिध्वनि है। प्रयोगवादी काव्य भी ऐसी ही मनोवृत्ति को प्रतिफलित या व्यक्त करता है।

प्रयोगवाद का भविष्य

अभी तक प्रयोगवादी कवियों की शक्ति मुख्यतः शैलीगत निरालेपन की उपलब्धि में व्यय हुई है। भाषा, मुहावरे, अलंकार आदि की नूतनता की ओर ज्यादा ध्यान दिया जाता रहा है। फलतः प्रयोगवादी काव्य में अभी तक सहजता एवं स्वाभाविक परिमार्जन की कमी रही है; उसकी नूतनता अक्सर प्रयास-लब्ध जान पड़ती है। इधर उर्दू छन्दों का आश्रय लेकर नये ढंग के प्रयोग होने लगे हैं, जिसमें नूतनता के साथ सहज सजीवता एवं रोचकता का समावेश दीखता है। इन प्रयोगों का स्वागत होना चाहिए। हिन्दी की शैली को सप्राण बनाने के अतिरिक्त ये प्रयोग हिन्दी-उर्दू की दूरी को घटाने में भी सहायक होंगे।

किन्तु इस प्रकार के फुटकल प्रयोग काफ़ी नहीं हैं। बोल-चाल की भाषा के निकट होने से कविता की भाषा में सजीवता आती है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु काव्य-साहित्य का लक्ष्य केवल सुबोध होना अथवा रोचक होना ही नहीं है। उसका गम्भीर उद्देश्य है, युग-जीवन की समग्रता, अर्थात् उसकी सम्पूर्ण सम्भावनाओं को, व्यवस्थित अभिव्यक्ति देना। अभिप्राय यह कि इस युग के कवियों को शब्दों के कोरे अनास्थामूलक प्रयोग से विरत होकर जीवन के प्रति अपने-अपने भावात्मक दृष्टिकोण को निर्मित तथा प्रकाशित करना पड़ेगा। किन्तु ऐसा करने के लिये प्रयत्नशील जिम्मेदार कवि न तो देश की तथा विश्व की सांस्कृतिक विरासत की ही उपेक्षा कर सकेगा, न पुरानी शब्द-सम्पत्ति की ही। जीवन की समग्रता इतनी जटिल है कि उसके प्रकाशन के लिए विभिन्न भाषाओं का चिर-संचित शब्द-वैभव भी काफी नहीं है। अतएव नई व्यञ्जनाओं

तथा मुहावरों की अधिकाधिक सृष्टि करते हुए भी कोई कवि पुरानी शब्दावलि के प्रति विमुख नहीं हो सकता। विशेषतः बृहत्तर कोटि की काव्य-रचना के लिए, पद्य, नाटक, महाकाव्य आदि बड़े प्रयत्नों के अनुष्ठान के लिए, यह अनिवार्य है कि कवि भाषा की समूची शब्द-शक्ति का उपयोग करे। कोई भी प्रयोगवादी कवि अभी तक इस प्रकार के बड़े दायित्व का अनुभव करता नहीं दीखता। विशुद्ध रोमांटिक सम्वेदना गीतिकाव्य में पूर्ण अभिव्यक्ति पा सकती है, किन्तु गीतों अथवा फुटकल कविताओं का माध्यम दूसरे प्रकार की संवेदनाओं के प्रकाशन के लिये पर्याप्त नहीं है। हिन्दीकाव्य की इस समय एक बड़ी आवश्यकता यह है कि उसके आधुनिक सम्वेदना-सम्पन्न कवि कथात्मक रचनाओं के माध्यम से जीवन के नैतिक-सामाजिक पहलुओं की विवृति करें। आधुनिक सम्वेदना का न्यूनाधिक वहन करने वाले काव्य हिन्दी में कम ही हैं; 'कामायनी' कुछ हद तक वैसी कृति है, और दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' भी। दिनकर के दूसरे काव्य 'रश्मिरथी' का धरातल इस दृष्टि से, 'कुरुक्षेत्र' से नीचा है। आज के कवि काव्य को रोचक एवं सजीव बनाने के नये उपाय खोज रहे हैं; हमारा सुझाव है कि कथातत्व का आश्रय लेते हुए वे अपने काव्य को सहज ही रोचक बना सकेंगे। ऐसे काव्य में नई जीवन-दृष्टियों के समावेश के लिये भी स्वाभाविक क्षेत्र मिल सकेगा। अवश्य ही इस प्रकार की रचना विचारों, जीवनानुभूति, तथा व्यञ्जना-शक्ति पर अधिक प्रौढ़ अधिकार माँगती है। जो साधारण प्रतिभा वाले कवियों में संभव नहीं है, उसके लिये दीर्घ साधना भी अपेक्षित है। किन्तु इसीलिये वैसी रचना ज्यादा स्थायी भी होती है—आज सैकड़ों कवितायें लिख चुकने के बावजूद नरेन्द्र शर्मा जैसे कवियों की कोई ठोस उपलब्धि दृष्टिगोचर नहीं होती। यह कथन 'अज्ञेय' तक के बारे में काफी हद तक सही जान पड़ेगा। आशा है हमारा यह वक्तव्य नई पीढ़ी के कवियों का ध्यान आकृष्ट करेगा।

: ११ :

प्रयोगवादी कविता

हम जान-बूझकर, अतिव्याप्ति को बचाने के लिये, 'नई' के बदले 'प्रयोग-वादी' विशेषण का प्रयोग कर रहे हैं। हमें यहाँ प्रयोगवादी काव्य की प्रेरणा एवं प्रगति का पर्यालोचन करना है।

अवश्य ही प्रयोगवादी काव्य किसी बलवती प्रेरणा की अभिव्यक्ति है; चाहें तो आप उस प्रेरणा को युग की जरूरत या माँग कह सकते हैं। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि कल के प्रगतिवादी भी आज प्रयोगवादी मुहावरे में लिखने का प्रयत्न करते पाये जाते हैं—लिख रहे हैं।

कविता या साहित्य में नई शैलियाँ क्यों उगने लगती हैं? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है—अथवा कई उत्तर दिये जा सकते हैं। एक, बहुत दिनों तक एक मार्ग या लीक में चलते-चलते पुरानी कविता रूढ़ि-ग्रस्त एवं अरोचक हो जाती है, इसलिये; दूसरे, काव्य-भाषा को जन-भाषा के निकट लाने के लिये, अथवा काव्य-निबद्ध अनुभूति को जन-जीवन के सम्पर्क में लाने के लिये; तीसरे, बदले हुए जीवन की नई सम्भावनाओं के उद्घाटन के लिये, अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये। नई शैली का अर्थ है जीवन या अनुभव-जगत के नये पहलुओं को नई दृष्टि से देखना, और उन्हें नये चित्रों, प्रतीकों, अलंकारों द्वारा अभिव्यक्ति देना।

हमारा युग प्राचीन मूल्यों के सम्पूर्ण विघटन, उनके प्रति पूर्ण अनास्था, का युग है; इसलिये हमारे कवियों की 'दृष्टि', उनके देखने और प्रतिक्रिया करने का तरीका भी, पूर्णतया बदल जाना चाहिये। 'प्रयोगवादी' कविता यही करना चाहती है; इसीलिये वह पुराने संस्कारों के पाठकों को अटपटी और कभी-कभी असंवेद्य लगती है। वह उनके बद्धमूल संस्कारों से एकदम ही मेल नहीं खाती।

अंग्रेजी में प्रयोगवादी-जैसी कविता प्रथम महायुद्ध के बाद के अनास्था-मूलक वातावरण में उद्भूत हुई। किन्तु उस समय रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवि रहस्यवाद लिख रहे थे। हिन्दी प्रयोगवाद भी केवल युग से प्रभावित नहीं है—वह बहुत हद तक इलियट, पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में

उत्थित हुआ है। यह इसलिये कहना पड़ता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय कवि देश के निर्माण, उसकी सृजनात्मक शक्तियों के पुनर्विकास के, सशक्त स्वप्न भी देख सकते थे—नयी स्फूर्ति-दायक जीवन-दृष्टियों की परिकल्पनायें भी कर सकते थे। अवश्य ही वैसी जीवन-दृष्टि या दृष्टियाँ भी रहस्यवाद एवं परलोकवाद से मुक्त होकर ही 'नवीन' विस्तार पा सकेंगी; वे भी पुराने मुहावरों में "फ़िट" न होंगी।

अब तक हमारे प्रयोगवाद का विकास किन दिशाओं में हुआ है? उत्तर है—जन-भाषा की अधिकाअधिक निकटता की ओर; रूप-विधान अथवा शिल्प के अधिक साहसी नये प्रयोगों की ओर। यह प्रगति है; यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि तत्सम तथा जन-भाषा के शब्दों के मिश्रण की अपेक्षा (जैसा कि प्रथम 'तारसप्तक' में है) शुद्ध जन-भाषा का प्रयोग ज्यादा रोचक और अर्थवादी होता है। हमारी राय है कि समृद्ध साहित्य-सृष्टि भाषा के सारे उपकरणों का उपयोग करते हुए ही सम्भव होती है।

साम्प्रतिक प्रयोगवाद की तीन मुख्य कमियाँ हैं। एक, कविगण नई 'दृष्टि' द्वारा नूतनता उत्पन्न न करके सिर्फ शब्दों तथा अलंकारों की विलक्षणता द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं। श्री गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में वे 'चौंकाने, ध्यान आकृष्ट करने, नई शैली का आभास पैदा करने' की ओर ही ज्यादा उन्मुख हैं। हमारा अनुमान है कि किसी भी युग की प्रयोगशील कविता सिर उछाल-उछालकर अपनी प्रयोगशीलता की घोषणा नहीं करती। किसी भी शैली की यथार्थ सफलता इसमें है कि वह अपने को वक्तव्य की महत्ता में खो दे।

प्रयोगवाद की दूसरी और ज्यादा बड़ी कमी—जो प्रथम से सम्बद्ध है—है, कवियों में व्यक्तित्व की कमी या अभाव। इस कमी के मूल में पारस्परिक अनुकरण या होड़ की प्रवृत्ति भी है, और गम्भीर साधना का अभाव भी।

कवियों की साम्प्रदायिक-जैसी दीखने वाली एकता—शैली, अर्थात् मुहावरों, चित्रों, लय-विधान आदि की समानता—जहाँ उन्हें संगठन का बल देती है, वहाँ उनके व्यक्तित्वों को अनिर्दिष्ट भी बना देती है। इस दृष्टि से प्रथम 'सप्तक' के बाद प्रयोगवादी कविता ने कोई प्रगति की है, इसमें सन्देह किया जा सकता है। साम्प्रदायिक ऐक्य और व्यक्तित्वों के अपूर्ण विकास के कारण ही प्रगतिवाद हमें कोई महत्त्वपूर्ण कवि नहीं दे सका।

हम अपनी बात दूसरे ढंग से कहें। व्यक्तित्व-सम्पन्न साहित्यकार का जीवन के कुछ क्षेत्रों से विशेष परिचय होता है, जिनका वह विशेष अन्वेषण-उद्‌घाटन

रता है। उसकी अपनी निजी साधना और दृष्टि भी होती है। छायावाद के चार मुख कवियों का अपना-अपना व्यक्तित्व रहा है—प्रत्येक का अपना विशिष्ट त्र और अपना सौन्दर्य-बोध। अपने विशिष्ट क्षेत्र में उनमें से प्रत्येक की उप-ब्धि एक सीमा तक विशद एवं प्रौढ़ हो सकी है। किसी भी प्रगतिवादी कवि सम्बन्ध में ये बातें नहीं कही जा सकतीं। इन दृष्टियों से 'अज्ञेय' का कृतित्व ी प्रमुख छायावादियों का समकक्ष—अभी तक नहीं है।

यह नहीं कि नई कविता वैसे व्यक्तित्व पैदा नहीं करेगी। हमें कहना यह : कि वैसे व्यक्तित्व अनवरत साधना द्वारा ही गठित हो सकेंगे। अनास्था और नषेध की भूमिका से निकल कर भविष्य के श्रेष्ठ कवियों को जीवन के ाति सुचिन्तित, सशक्त भावात्मक दृष्टिकोण विकसित करना होगा और अपनी ंवेदना के अनुकूल क्षेत्रों में मार्मिक, विस्तृत एवं प्रौढ़ सृजन के अनुष्ठान करने ड़ेंगे। इस दृष्टि से नये कवियों का काम रवीन्द्र तथा छायावादियों से कहीं ठिन है; उन कवियों को परम्परा प्राप्त जीवन-दर्शन का बल था, आज जीवन-ृष्टि को विकसित करने की समस्या है। [मार्क्स का एकांगी जीवन-दर्शन आज के जटिल युग तथा भारत जैसे प्राचीन देश के लिए पर्याप्त नहीं है—यह हमारी पिछले पन्द्रह वर्ष की अल्प-सफल काव्य-रचना से भी सिद्ध है।

तीसरे, अधिकांश प्रयोगवादी कवियों की रचना में उस अनुशासन की कमी दिखाई देती है जो विशिष्ट कविता अथवा कृति को चुस्त संगठन एवं विशद ओज देता है। इस दृष्टि से नये कवि बच्चन के काव्य से—जो जन-भाषा के निकट है—सही प्रेरणा ले सकते हैं। स्पष्ट ही इसका अर्थ बच्चन के छन्दों, मुहावरों एवं संवेदना का अनुकरण नहीं है।

अर्ध विकसित कवि इस बात को महसूस कर पाते हैं कि मुक्त छन्द लिखना छन्दबद्ध काव्य-रचना से कहीं अधिक कड़ा अनुशासन मांगता है। कुछ कवियों के बारे में यह सन्देह होता है कि वे, सम्भवतः अक्षमता के कारण, छन्दबद्ध रचना की "डिसिप्लिन" में गुजरे बिना ही, मुक्त छन्द लिखने लगे हैं। इस सम्बन्ध में हम हिन्दी लेखकों तथा समीक्षकों के सामने एक विचारणीय मन्तव्य रखना चाहते हैं। मानव संस्कृतियों के प्रसिद्ध, अध्येता, नर-विज्ञान के प्रकाण्ड पंडित, क्रेबर का कहना है कि छन्दहीन काव्य और कथानक-रहित उपन्यास सांस्कृतिक अधः प्रगति (डिकेडेन्स) के द्योतक होते हैं।

हमारा उद्देश्य प्रयोगशील कवियों को निरुत्साहित नहीं, सचेत करना है। राजनीतिक इतिहास में साम्प्रदायिक संगठन बल देता है; किन्तु साहित्यिक इति-हास व्यक्तित्वों को ही महत्त्व देता आया है। साधनाशील साहित्यकार अपने

तथा मानवता अथवा मानव-संस्कृति दोनों के भविष्य के सम्बन्ध में दूरदर्शी होता है; सुलभ किन्तु अल्पकालिक वाहवाही के लोभ से वह अपने को किसी संकीर्ण, साम्प्रदायिक जोश या उमंग के प्रवाह में नहीं बह जाने देता। इसे याद रख कर ही हमारे प्रयोगशील कवि उन बड़ी महत्त्वाकांक्षाओं का पोषण कर सकेंगे जो वाल्मीकि, कालिदास एवं सूर-तुलसी के देश के कलाकारों के लिए उचित और शोभन हैं।

: १२ :

हिन्दी-आलोचना : अगला कदम

हिंदी में आधुनिक अर्थात् योरपीय ढंग की आलोचना का आरम्भ हुए प्रायः तीन-साढ़े-तीन दशाब्द ही बीते हैं। इस छोटी अवधि में हिंदी-समीक्षकों तथा साहित्यकारों ने अनेक वादों की आज़माइश की है। हमारे लेखक ही नहीं आलोचक भी समय-समय पर रहस्यवाद तथा छायावाद, प्रगतिवाद अथवा मार्क्सवाद, प्रतीकवाद एवं प्रयोगवाद के समर्थक रहे हैं, और हैं। इन वादों के उत्थान से पूर्व के महत्त्वपूर्ण समीक्षक पंडित रामचन्द्र शुक्ल भी वाद-मुक्त न थे—वे एक प्रतिगामी सीमा तक मर्यादावादी थे। इनके अतिरिक्त राष्ट्रवाद, अभि-व्यंजनावाद तथा मनोविश्लेषणवाद के नारे भी जब-तब सुनाई देते रहे हैं। हाल ही में अतिवस्तुवाद (Surrealism) तथा अस्तित्ववाद (Existentialism) की चर्चा भी छिड़ने लगी है।

कोई भी साहित्यिक वाद दो में से एक का आश्रय लेकर खड़ा होता है—एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का अथवा एक निराली शैली का। यह विभाग स्थूल रूप में ही सही है, वास्तव में जीवन-दर्शन तथा शैली—दोनों विशेष प्रकार की अनुभूतियों का आधार लेकर ही अभिव्यक्ति पाते हैं। छायावाद और प्रगतिवाद का सम्बन्ध विशिष्ट जीवन-दर्शनों से रहा है, यही बात मर्यादावाद और राष्ट्रवाद पर भी लागू है। इसके विपरीत अतिवस्तुवाद तथा प्रयोगवाद मुख्यतः शैलियों के भेद जान पड़ते हैं। किन्तु यदि गहराई में घुसकर देखा जाय तो जान पड़ेगा कि उक्त सब वादों का सम्बन्ध अनुभूति के विशिष्ट क्षेत्रों से है।

बात यह है कि अपनी समग्रता में मानव-जीवन नितान्त विविधतापूर्ण और जटिल है। विभिन्न वाद उस जीवन के विभिन्न अंगों अथवा क्षेत्रों को ज्यादा महत्त्व देते तथा साहित्यकार से तत्सम्बन्धी अभिव्यक्ति की माँग करते हैं। इसी के फलस्वरूप प्रत्येक वाद दूसरी कोटि की अनुभूति के प्रकाशन को महत्त्व नहीं देना चाहता। उदाहरण के लिए, छायावादी कवि जीवन को

मांसल अभिव्यक्ति से कतराते थे और लौकिक प्रेमानुभूति एवं सौंदर्यानुभूति को भी अलौकिक प्रतीकों में बाँधकर व्यक्त करना चाहते थे। छायावाद की स्वच्छन्द वैयक्तिकता के विरुद्ध प्रगतिवाद साहित्यकार से सामाजिक अनुभूति की माँग करता है। शुक्ल जी का आग्रह था कि लेखक जीवन की अभिव्यक्ति प्राचीन भारतीय मर्यादाओं के भीतर करें। हिंदी के प्रगतिवादी भी एक प्रकार के मर्यादावादी हैं, यद्यपि उनका मर्यादावाद मार्क्सीय भौतिकवाद तथा सामाजिक यथार्थवाद की सीमाओं में आबद्ध है। मनोविश्लेषणवाद स्पष्ट ही विशेष प्रकार के अनुभवों की अभिव्यंजना को महत्त्व देता है; अतिवस्तुवाद भी उसी से संबद्ध है। प्रयोगवादी भी वास्तव में कवि से ऐसी अनुभूति का प्रकाशन माँगता है जो परम्परागत मूल्यों पर आधारित नहीं है; वह शब्दों के ऐसे प्रयोग का पक्षपाती है जिसमें उनके पुराने अनुषंगों को (और ये अनुषंग सौंदर्य-असौंदर्य आदि की मूल्य-भावना से संबद्ध रहते हैं) पूर्णतया परित्यक्त कर दिया गया है।

प्रश्न है—जीवन अथवा जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में सोचने का, युग-जीवन को आँकने और उसके दिशा-निर्धारण का कार्य किसका है ? पुराने जमाने में धर्म-शिक्षक तथा दार्शनिक जनता को भलाई-बुराई की शिक्षा दिया करते थे। आज धर्म-शिक्षकों का महत्त्व बहुत कम हो गया है, प्राचीन धर्मों की मान्यता भी जाती रही है और दर्शन जीवन से तटस्थ होता जा रहा है। आज दर्शन की अपेक्षा विज्ञान की मान्यता बढ़ गई है। भौतिक जगत् के बारे में तो दर्शन का कुछ भी कहना अनधिकार चेष्टा समझी जाती है। इसके अलावा बर्ट्रांड रसेल तथा 'लॉजिकल पाजिटिविज्म' का कहना है कि धर्म-अधर्म, अच्छाई-बुराई, सौंदर्य-असौंदर्य आदि मूल्य सत्त्व (Values) वैज्ञानिक चिन्तन के विषय नहीं हो सकते—वे केवल भावना के विषय हैं। और चूँकि भावना अवैज्ञानिक है, इसलिए जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में कोई निश्चित एवं सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त नहीं दिया जा सकता। मतलब यह कि बीसवीं शताब्दी का दर्शन जीवन-दर्शन नहीं रह गया है। निष्कर्ष यह कि आज का लेखक अपनी जीवन-दृष्टि बनाने के लिए न धर्म-शिक्षकों पर निर्भर कर सकता है, न दार्शनिकों पर। वस्तुतः आज विचारशीलों का जीवन-दर्शन मुख्यतः विभिन्न भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों की खोजों से प्रभावित एवं निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त लेखक को अपनी मानवीय संवेदना का आश्रय लेना पड़ता है।

हम पूछ रहे थे—जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन करने का अधिकार किसे है ? साहित्य के क्षेत्र में यह हमारा निश्चित मत है—यह अधिकार लेखक को है, समीक्षक को नहीं। जीवन का द्रष्टा साहित्यकार होता है, न कि समीक्षक।

अपनी विशिष्ट हैसियत से समीक्षक साहित्य का पारखी है, साक्षात् जीवन का पारखी नहीं। समीक्षक की हैसियत से वह साहित्य के गुण-दोषों की परख करता है, जीवन के विभिन्न पक्षों की आलोचना उसका काम नहीं है। यदि कोई समीक्षक यह समझता है कि उसके पास मानव-जीवन एवं मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार हैं तो उसे उन विचारों को समाज-दर्शन अथवा समाज-विज्ञान के रूप में दुनिया के सामने पेश करना चाहिए—साहित्य-समीक्षा इस तरह के विचारों के प्रदर्शन का स्थान नहीं है। जो समीक्षक एक समाज-दार्शनिक अथवा समाज-वैज्ञानिक के रूप में प्रसिद्ध नहीं है, उसे यह अधिकार नहीं कि वह साहित्यिक समीक्षा में लेखकों को जीवन-दर्शन का उपदेश दे। जब कोई समीक्षक लेखक को इस प्रकार का उपदेश देता है तब प्रायः वह किसी-न-किसी न्यूनाधिक प्रचलित जीवन-दर्शन की दुहाई देता है। किन्तु, एक स्वतन्त्र जीवन-द्रष्टा होने के नाते, साहित्यकार ऐसी किसी भी दुहाई से विचलित अथवा प्रभावित होने को बाध्य नहीं।

कहा जा सकता है कि जीवन-सम्बन्धी चिन्तन की क्षमता में समीक्षक भले ही लेखक का समकक्ष न हो, किन्तु जिन प्रसिद्ध जीवन-दर्शनों अथवा चिन्तकों की वह (समीक्षक) दुहाई देता है वे अवश्य ही लेखक के समकक्ष अथवा उससे ऊँचे थे। उदाहरण के लिए एक मार्क्सवादी समीक्षक स्वयं भले ही बढ़िया विचारक न हो, किन्तु जिस कार्लमार्क्स के नाम पर वह किसी लेखक या कृति को भला-बुरा कहता है, वह अवश्य ही एक बड़ा चिंतक था जिसकी बात लेखक को मान्य होनी चाहिए। उत्तर में हमें दो निवेदन करने हैं। प्रथमतः जीवन के जिस विशिष्ट क्षेत्र के सम्बन्ध में लेखक बातचीत करता है उसकी जानकारी उसे दार्शनिकों तथा समाज-शास्त्रियों से अधिक है। दूसरे, मार्क्स-जैसे दर्जनों समकक्ष विचारकों ने जीवन के बारे में परस्पर-विरोधी मंतव्य प्रतिपादित किए हैं; अतएव लेखक किसी एक के विचारों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। कोई कारण नहीं कि लेखक अपनी स्वतन्त्र चिंतन-शक्ति से काम न लेते हुए शंकर अथवा हीगल के अध्यात्मवाद एवं मार्क्स अथवा रसेल के भौतिकवाद को स्वीकार करके चले। यह भी मुमकिन है कि लेखक को जीवन के एक विशिष्ट पहलू की अभिव्यक्ति में शंकर एवं मार्क्स—दोनों की शिक्षाएँ अप्रासंगिक जान पड़ें। किसी भी दशा में समीक्षक को यह अहंकारपूर्ण दावा करने का अधिकार नहीं है कि जीवन और उसकी जरूरतों के बारे में वह लेखक से अधिक जानकारी रखता है।

एक उदाहरण लीजिए। गाँधी जी एक वीर पुरुष थे या नहीं, इस प्रश्न

का निर्णय कौन करेगा ? लेखक अथवा समीक्षक ? एक प्रगतिवादी समीक्षक कह सकता है कि गाँधी जी की अपेक्षा लेनिन अथवा स्तालिन श्रेष्ठतर महा-पुरुष था, इसलिए हिंदी के कवि को स्तालिन के जीवन पर महाकाव्य लिखना चाहिए, गांधी के नहीं। स्पष्ट ही गांधी के कवि को अहिंसावाद का समर्थन करना होगा, जो मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। अहिंसावादी न होते हुए भी लेखक यह सोच सकता है कि महाकाव्य का नायक कोई राष्ट्रीय महा-पुरुष होना चाहिए। (यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी ने कोई वैसा महापुरुष उत्पन्न नहीं किया।) ऐसी दशा में कट्टर कम्यू-निस्ट लेखक किसी भारतीय महापुरुष पर कैसे काव्य लिख सकता है ? माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने 'मेघनाद-वध' में रावण और उसके पुत्र को सहानुभूति दी है; लेकिन वे भी एक प्रकार से भारतीय पात्र हैं। प्रश्न है—क्या एक हिन्दू आलोचक 'मेघनाद-वध' के काव्य-सौष्ठव की दाद दे सकता है ? और क्या एक कम्यूनिस्ट आलोचक गांधी के व्यक्तित्व पर लिखे हुए काव्य या नाटक का सही मूल्यांकन कर सकता है ? क्या किसी समीक्षक के लिए यह निर्णय देना संभव नहीं है कि ईसाई दांते तथा हिन्दू तुलसीदास दोनों ही श्रेष्ठ कवि हैं ? और यदि समीक्षक अतीत साहित्यकारों के जीवन-दर्शनों के सम्बन्ध में उदार हो सकता है और यह सहन कर सकता है कि आज के पाठक भौतिकवादी ल्यूक्रीशियस एवं कट्टर धार्मिक दांते दोनों का अध्ययन करें, तो क्या वह आज के साहित्यिकों के सम्बन्ध में वैसी ही दृष्टि नहीं रख सकता ? क्या जरूरी है कि इस युग के सारे साहित्यकार एक ही जीवन-दर्शन के अनुयायी हों ? वस्तुतः आज के युग में जब कि भूमंडल की असंख्य संस्कृतियाँ एवं विचारधाराएँ हमारी चेतना के सम्मुख एक साथ उपस्थित हो गई हैं, किसी लेखक से एक कट्टर जीवन-दर्शन की माँग करना हठधर्मी ही नहीं, हद दर्जे की मूर्खता है।

इतनी भूमिका के बाद अब हम हिन्दी-आलोचना की ओर लौटें। हमारा ख्याल है कि पिछले तीस वर्षों की हिन्दी-आलोचना साहित्य में अभिव्यक्त जीवन-दर्शन को कुछ ज्यादा महत्त्व देती आई है। यह नहीं कि इसका कोई ऐतिहासिक कारण नहीं है; लेकिन कारण तो सही-गलत सभी घटनाओं तथा क्रियाओं का होता है। पिछले तीन दशकों में मनुष्य के जीवन तथा विचारों में अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं, अनेक विश्वास बने और बिगड़े हैं, बहुत-सी पुरानी मान्यताएँ ढह गई हैं। मानवीय जीवन तथा संस्कृति की बाहरी परिस्थितियों में भी बड़े उलट-फेर हुए हैं। पिछले तीन-चार दशकों में दो बड़े महायुद्ध हुए, और विनाश के यंत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुई। ऐसे संकटों की स्थिति में यदि

जनता असहाय भाव से अपने लेखकों तथा कवियों से त्राण कर सकने वाले जीवन-दर्शन की माँग करे, तो आश्चर्य नहीं। यह भी स्वाभाविक है कि लेखक लोग, अपनी शक्तियों के अनुसार, इस माँग को पूरा करने का प्रयत्न करें। और, यह भी अनिवार्य है कि समीक्षकों की दृष्टि साहित्यिक कृतियों के विचार-तत्त्व की ओर आकृष्ट हो। किन्तु किसी लेखक के विचारों पर दृष्टिपात करने और उन विचारों को मूल्यांकन का पैमाना बना डालने में अन्तर है। इस अन्तर को स्पष्ट करना ही प्रस्तुत लेख का प्रमुख उद्देश्य है।

छायावाद के पारखियों ने उसके काव्य-सौष्ठव का विश्लेषण करने के प्रयत्न किए; यह उचित ही था। किन्तु इसके साथ एक धाँधली भी चलती रही। रहस्यवाद के नाम पर छायावाद की अस्पष्ट, धूमिल तथा अशक्त रचनाओं की भी जी खोलकर प्रशंसा की जाती रही। कवि तथा आलोचक—दोनों के हाथों में एक विशेष जीवन-दर्शन—जिसकी उन दिनों रवींद्र आदि के प्रभाव के कारण मान्यता थी—छायावाद की अभिव्यक्तिगत दुर्बलताओं पर पर्दा डालने का अस्त्र बन गया। हमने कहा कि छायावाद के आलोचकों ने उक्त काव्य के गुण-दोषों का विशुद्ध कलात्मक विवेचन भी किया। किन्तु प्रगतिवादी आलोचकों ने अभिव्यक्तिगत सौष्ठव अथवा पूर्णता की एकदम ही उपेक्षा की, और बेतकल्लुफ होकर साहित्यकारों से विशिष्ट जीवन-दर्शन की माँग करने लगे। मुख्यतः प्रगतिवादियों के प्रचार से आज उपयोगी जीवन-दर्शन की माँग इतनी प्रबल हो गई है कि हम यह भूल ही गए हैं कि समीक्षक का प्रधान कार्य साहित्यकार के जीवन-दर्शन को परखना नहीं है। समीक्षक साहित्यकार के जीवन-दर्शन की बिलकुल ही उपेक्षा करे—यह आवश्यक नहीं; किन्तु किसी भी दशा में समीक्षक से उस योग्यता की अपेक्षा नहीं की जा सकती जो जीवन-दर्शन के मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। हम यह आशा नहीं कर सकते कि एक साहित्य-समीक्षक अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद-जैसे दुरूह दार्शनिक सिद्धान्तों एवं विवादों पर निर्णय देने की क्षमता से सम्पन्न होगा। दार्शनिक चिन्तन की गम्भीर 'डिसिप्लिन' में गए बिना जो समीक्षक ऐसा समझने लगते हैं, वे अनधिकार चेष्टा के अपराधी होते हैं। आस्तिकवाद तथा नास्तिकवाद—दोनों सिद्धान्तों का मानव-जीवन तथा मानवीय संस्कृति के लिए अलग-अलग तरह का महत्त्व है; किसी समीक्षक को यह अधिकार नहीं कि वह लेखक को इस सम्बन्ध में शिक्षा देने का यत्न करे। लेखक को यह पूर्ण अधिकार है कि वह मानवता के कल्याण के लिए उस किसी भी जीवन-दर्शन का, जिसे उसकी संवेदना तथा बुद्धि स्वीकार करती है, प्रचार या संकेत करे। हमारा यह मन्तव्य जनतन्त्र के अनुकूल तो है

ही, विश्व के मनीषियों की उस संघर्ष-परम्परा के भी अनुकूल है, जो लगातार विचार-स्वातन्त्र्य की उपलब्धि के लिए अनुष्ठित होती रही है।

संसार के समस्त जीवन-दर्शनों के ऊपर है—मानव-जीवन का सत्य। अपने ढंग से साहित्यकार भी जीवन-विषयक सत्य को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। इस सत्य को स्वीकृत दर्शनों द्वारा सीमित करने की छूट नहीं दी जा सकती। यदि ऐसी छूट दी गई होती तो संसार न चार्वाक तथा कार्लमार्क्स के विचारों को सुन पाता, न डार्विन तथा आइंस्टाइन के। विचार-क्षेत्र में सब से बड़ा प्रतिक्रियावादी वह है जो स्वीकृत सत्यों से भिन्न नई सचाइयों के उद्‌घाटन की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता।

प्रश्न है, किसी साहित्यिक कृति में समीक्षक को मुख्यतः क्या देखने का प्रयत्न करना चाहिए ? उत्तर है—समीक्षक को मुख्यतः दो चीज़ें देखनी चाहिएँ। एक यह कि किसी कलाकृति में कहाँ तक अनुभूति की सचाई है, उसमें निबद्ध अनुभूति कहाँ तक ग्राह्य अथवा संवेद्य है; जिस अनुभूति को साहित्यकार ने उपस्थित किया है वह किस हद तक सजीव जीवन-स्पंदन का रूप ले सकी है। दूसरे, समीक्षक को देखना चाहिए कि अभिव्यक्त अनुभूति का स्तर या धरातल क्या है; वह प्रौढ़ता अथवा परिपक्वता की किस भूमिका तक पहुँच सकी है। इनके साथ ही समीक्षक को यह देखना होगा कि अभिव्यक्त अनुभूति कहाँ तक कलाकार की अपनी निराली संवेदना का प्रतिफलन है; दूसरे शब्दों में, वह अनुभूति कहाँ तक दूसरे युगों अथवा विचारकों की परम्परायुक्त अनुभूति न होकर लेखक की स्वयं अपनी अनुभूति है।

खास तौर से आज के हिन्दी-समीक्षक को अनुभूति अथवा कृतित्व के धरातल को परखने की योग्यता सम्पादित करनी है।

इस वक्तव्य को पल्लवित करने की जरूरत है। किसी भी युग में नए साहित्य की जरूरत इसलिए पड़ती है कि उस युग के जीवन की सम्भावनाएँ विगत युगों की जीवन-सम्भावनाओं से भिन्न अथवा नई होती हैं। साहित्य को हम या तो जीवन का चित्रण कह सकते हैं या जीवन की (रागात्मक) सम्भावनाओं का उद्‌घाटन। जीवन का यथार्थ-मूलक चित्रण फोटोग्राफी के अर्थ में सम्भव नहीं है। जीवन की असंख्य छवियों से चयन करते हुए कलाकार उसकी न्यूनाधिक यथार्थ संभावनाओं की ही विवृति या सृष्टि कर सकता है। क्योंकि जीवन के तत्वों का अन्वेषण एक अखण्ड ऐतिहासिक परम्परा है, इसलिए नए युग की अनुभूति विगत युगों की निषेधक न होकर उनकी जीवनानुभूति में वृद्धि करने वाली होती है। अतएव नए लेखक की समस्या होती है—वर्तमान अथवा

निकट अतीत के एक विशेष बिन्दु तक संचय किए हुए मानवता के ज्ञान एवं अनुभव की नई सम्भावनाओं का निर्देश करना। परिपक्व मस्तिष्क का लेखक वह है जो ऐतिहासिक, अर्थात् समग्र इतिहास में बिखरी हुई, मानव-चेतना के अधिक सार्थक रूपों से सुपरिचित है, और उस परिचय के आलोक में जीवन की नई दिशाओं का संकेत करने में प्रयत्नशील है।

उक्त कथन को हम उदाहरण देकर स्पष्ट करें। जीवन की एक नई सम्भावना के निर्देश को दो तरह से समझा जा सकता है। प्रथमतः इस सम्भावना का अर्थ है जीवन तथा जगत् के अन्वेषित यथार्थ से एक नया सम्बन्ध; दूसरा अर्थ है, उस यथार्थ के प्रति एक विशेष रुख या मनोभाव। जिन्हें हम अध्यात्मवादी या भौतिकवादी दर्शन कहते हैं, वे उल्लिखित यथार्थ के प्रति विशिष्ट रुखों का प्रतिपादन करते हैं। एक विचारशील व्यक्ति में ये मनोभाव यथार्थ जगत् की विशिष्ट चेतना से निर्धारित और निरूपित होते हैं। उच्च कोटि का लेखक यथार्थ-सम्बन्धी चेतना और उसके प्रति भावनात्मक दृष्टि अथवा रागात्मक मनोभाव (Emotional Attitude), दोनों का ही प्रकाशन करता है।

इसका मतलब यह है कि यदि कोई लेखक अपने पाठक में भौतिकवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा करना चाहता है तो उसे उस समग्र बोध-चेतना का संकेत करना पड़ेगा जो आज के विचारशील व्यक्ति को भौतिकवादी दर्शन की ओर आकृष्ट करती है। यही बात अध्यात्मवादी अथवा ईश्वरवादी जीवन-दृष्टि के रागात्मक प्रतिपादन पर लागू होगी।

आज यदि कोई ईश्वरवादी लेखक हमारे सामने भावुक भाषा में केवल उन तथ्यों को रखे जिनके आधार पर पुराने लोग आस्तिक बन जाते थे, अथवा कोई दार्शनिक केवल उन्हीं तर्कों को दुहरा दे जो उदयनाचार्य ने अपनी 'कुसुमांजलि' में उपस्थित किए थे, तो वह न तो हमारे विशिष्ट युग का विचारक ही होगा, न एक प्रौढ़ अथवा परिपक्व मस्तिष्क का लेखक ही माना जा सकेगा। प्रौढ़ एवं परिपक्व बुद्धि का लेखक वही है जो किसी प्रश्न से सम्बद्ध मानव-जाति की आज तक की अशेष शंकाओं तथा संदेहों के बीच गुजर चुका है।

सम्भव है कि जीवन के भावनात्मक दृष्टिकोण संख्या में सीमित हैं— जैसे आशावाद और निराशावाद, संदेहवाद और आस्थावाद, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, इहलोकवाद तथा परलोकवाद; किन्तु वह यथार्थ जिसकी चेतना में इन मनोभावों का उदय होता है, स्वयं मनुष्य की अन्वेषण-क्रिया से लगातार बदलता रहता है। विभिन्न विज्ञानों के सतत अन्वेषणों के द्वारा ज्ञात विश्व

का मानचित्र लगातार बदलता जा रहा है। इस बदलते मानचित्र की चेतना को देते हुए ही कलाकार हममें विभिन्न रागात्मक दृष्टियों या मनोभावों को उत्पन्न करता है। अतः किसी भी साहित्यिक कृति की परीक्षा करते हुए हमें यह देखना चाहिए कि उसके लेखक ने अपने पाठकों में जिस रागात्मक मनोवृत्ति को उत्पन्न करना चाहा है, उसकी पुष्टि में वह कितनी समृद्ध यार्थानुभूति अथवा बोध-चेतना का उपयोग कर सका है।

संक्षेप में, किसी कलाकृति के धरातल की जाँच करने के लिए यह देखना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि लेखक भौतिकवादी है या अध्यात्मवादी, वह संशयवादी है या आस्थावादी; महत्त्वपूर्ण बात यह देखना है कि वह अपनी विशिष्ट जीवन-दृष्टि को कितनी सूक्ष्म, गहरी तथा आधुनिक यथार्थ-चेतना से संबद्ध करके व्यक्त कर सका है। शास्त्रीय भाषा में, समीक्षक को यह देखना चाहिए कि, मानवता के आज तक उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान के आलोक में, किसी लेखक या कृति का विभावपक्ष कितना समृद्ध है।*

अन्वेषित यथार्थ से संबद्ध चेतनाओं की समानता के कारण एक आधुनिक भौतिकवादी, बीसवीं सदी के एक अध्यात्मवादी की बातचीत में जितना रस ले सकेगा उतना एक चार्वाक-युगीन भौतिकवादी की बातचीत में नहीं। दार्शनिक समझदारी की दृष्टि से यह भेद उतना महत्वपूर्ण नहीं है कि एक व्यक्ति भौतिकवादी है और दूसरा अध्यात्मवादी, जितना कि वह जो एक आधुनिक परीक्षक की यथार्थचेतना और एक दो हजार वर्ष पूर्व के तत्त्व-चिंतक की यथार्थ-चेतना में है।

हिन्दी-समीक्षा अभी तक प्रौढ़ि अथवा परिपक्वता (Maturity) की इस धारणा से न तो परिचित ही है और न उसका उपयोग ही कर सकी है। छायावादी कवि किस जीवन-दर्शन को मानते थे, यह एक बात है; वे उस दर्शन को कितनी सूक्ष्म एवं विस्तृत यथार्थ-चेतना अथवा बोध-दृष्टि से संबद्ध करके प्रकाशित कर सके हैं, यह दूसरा और ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। 'कामायनी' से हमारी यह शिकायत नहीं है कि उसमें श्रद्धा और बुद्धि के द्वंद्व को दिखाते हुए श्रद्धा को श्रेष्ठतर घोषित किया है—यदि एक समीक्षक स्वयं बुद्धिवादी है तो भी उसे यह शिकायत करने का अधिकार नहीं है। हमारी शिकायत दूसरी है—यह कि उक्त काव्य में श्रद्धा और बुद्धि के संघर्ष को अपने युग के विकसित धरातल पर चित्रित नहीं किया गया है। उसमें न तो

* विभाव-पक्ष की सम्बद्धता में समीक्षक लेखक की जीवन-दृष्टि का विश्लेषण और उसकी प्रौढ़ता का मूल्यांकन कर सकता है—उसे करना चाहिए।

बुद्धि-पक्ष का ही ऐसा प्रतिपादन है जिसमें मानव-बुद्धि के महत्त्व का सशक्त प्रतिफलन हो—जो बुद्धिवादियों की भावनाओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सके—और न श्रद्धा के पक्ष का ही ऐसा गम्भीर समर्थन है जो युग की सन्देहवादी बौद्धिकता को हिला भी सके। जान पड़ता है, 'कामायनी' काव्य साधारण कोटि के पाठकों के लिए लिखा गया है; उन विचारशी जिज्ञासुओं के लिए नहीं, जो सुचिंतित जीवन-दर्शन की खोज में विश्व के अशेष ज्ञान-विज्ञान का मंथन कर डालते हैं। सच पूछिए तो 'कामायनी' में तेजस्वी चिंतन का गम्भीर आलोड़न कहीं प्रतिफलित ही नहीं हो सका है।

उच्चतम कोटि के धरातल पर लिखे हुए महाकाव्य अथवा उपन्यास से दूसरे क्षेत्रों के श्रेष्ठतम विचारकों को कुछ सीख सकना चाहिए। किसी भी युग का उच्चकोटि का कलाकार बौद्धिक अर्थात् चिंतन के धरातल पर अपने समय के ऊँचे-से-ऊँचे विचारकों का समकक्ष होता है। उदाहरण के लिए, बौद्धिक परिपक्वता में टी० एस० इलियट अपने क्षेत्र में उतनी ही ऊँची कोटि का विचारक है जितनी बर्ट्रांड रसेल तथा आइन्स्टाइन अपने क्षेत्रों में। अपने देश के रवीन्द्रनाथ भी इसी कोटि के विचारशील लेखक थे। इस दृष्टि से खड़ी बोली के अब तक के किसी भी लेखक का नाम उक्त प्रतिभाओं के साथ नहीं लिया जा सकेगा।

अब हम साहित्यिक प्रौढ़ता के स्वरूप का संक्षिप्त निर्देश करने का प्रयत्न करेंगे।

किसी साहित्यिक कृति में एक श्रेणी की प्रौढ़ता तब उत्पन्न होती है जब उसमें निबद्ध अनुभूति अखंडित रूप में यथार्थ जान पड़ती है। इस कोटि के साहित्य में नियोजित कल्पना पूर्णतया यथार्थ कल्पना होती है; वहाँ यथार्थ के सघन चित्रों के बीच घटिया कल्पना के पेबंद नहीं रहते। प्रेमचन्द के 'गोदान' में किसान-जीवन का चित्रण इस दृष्टि से प्रौढ़ बन सका है, किन्तु उसी उपन्यास में दार्शनिक मेहता तथा दूसरे वर्गों का चित्रण उतने सघन रूप में यथार्थ नहीं है। इसके विपरीत गोर्की का 'मा' उपन्यास शुरू से अन्त तक यथार्थ की सघन प्रतीति का वाहक है। इसलिए, शायद, गोदान की तुलना में 'मा' उपन्यास श्रेष्ठतर है। 'शायद' इसलिए कि प्रेमचन्द ने किसानों की परम्परागत संस्कृति का भी सूक्ष्म अंकन किया है; उसका यह अंकन अमेरिकी लेखिका पर्ल बक के 'द गुड अर्थ' से अधिक बहुमुखी है। इसी प्रकार शरच्चन्द्र के उपन्यासों में मध्यवर्ग के जीवन के सघन यथार्थ-मूलक चित्र पाये जाते हैं।

यथार्थ मनोवैज्ञानिक भी होता है और सामाजिक भी; विच्छिन्न न होते हुए भी ये दोनो कोटियाँ विविक्त या अलग की जा सकती है। कुछ लेखक मानवीय कर्मो के गहरे मनोवैज्ञानिक स्रोतों का सशक्त परिचय देने की क्षमता रखते हैं, जैसे दास्ताएव्स्की; दूसरे लेखक कर्म की सामाजिक प्रेरणाओं का जटिल चित्रण कर सकते हैं, जैसे टॉल्सटाय। ये दोनो ही लेखक उक्त तीनों लेखकों से बड़े हैं।

प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों तथा समाज का चित्रण मुख्यतः वर्तमान के दायरे में किया है; सांस्कृतिक परम्परा को वहीं तक लिया है जहाँ तक वह वर्तमान को प्रभावित कर रही है। उनकी दृष्टि में अच्छाई-बुराई के पैमाने पूर्णतया निश्चित हैं। अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं की, और उनसे उत्पन्न विचारात्मक संघर्ष की, गहरी ऐतिहासिक चेतना प्रेमचन्द में नहीं है। इसके विपरीत 'शेष प्रश्न' तथा 'पथ के दावेदार' का लेखक एक से अधिक परम्पराओं अथवा जीवन-दृष्टियों के संघर्ष को देखने-चित्रित करने की क्षमता रखता है। इस दृष्टि से शरच्चन्द्र प्रेमचन्द से बड़े कलाकार है। और इसी दृष्टि से 'वार एंड पीस' का लेखक टॉल्सटाय शरच्चन्द्र से महत्तर कलाकार है। टॉल्सटॉय की यथार्थ, विषयक दृष्टि भी उक्त भारतीय लेखकों से अधिक सघन और समृद्ध है। दास्ताएव्स्की की विशेषता इसमें है कि वह मानव-चेतना की गहराइयों की विवृति करते हुए हमारे सामने मनष्य की नैतिक-धार्मिक अनुभूति से सम्बद्ध क्रांतिकारी प्रश्न उपस्थित कर देता है।

संक्षेप में, बहुत बड़े लेखक हमारे सामने केवल एक विशेष देश-काल के मनुष्य का नहीं, अपितु लम्बे इतिहास वाले मनुष्य का समस्या-जटिल जीवन उपस्थित कर देते हैं। महान् लेखक कभी-कभी ऐसे संकेत भी दे देते हैं जिनसे हम मनुष्य को भूमण्डल के समाजों की ही नहीं, अपितु अखिल ब्रह्मांड की पृष्ठभूमि में देख सकें।

यहाँ संक्षेप में हम एक प्रश्न का विचार और करेंगे—साहित्य की उपयोगिता का। मनुष्य का कोई भी प्रयत्न एक साधारण, छिछले अर्थ में उपयोगी हो सकता है और एक बड़े, गम्भीर अर्थ में भी। अपेक्षाकृत कम पढ़े-लिखे लोगों की सुविधा की दृष्टि से राधेश्याम कथावाचक की रामायण तुलसी के 'मानस' से अधिक उपयोगी सिद्ध की जा सकती है। किन्तु किसी साहित्यिक कृति की उपयोगिता का अन्तिम मानदण्ड यह है कि वह कृति यथार्थ के विस्तार और गहराइयों से हमारा कितना सघन परिचय कराती तथा हमारे चेतना-मूलक एवं सृजनशील जीवन को कितना समृद्ध करती है।

पूछा जा सकता है—यदि समीक्षक में विशिष्ट जीवन-दर्शन का आग्रह नहीं होगा तो वह व्यवसायी दृष्टि से लिखे गए अश्लील साहित्य एवं स्वस्थ साहित्य में किस प्रकार अन्तर करेगा। उत्तर में निवेदन है—तथाकथित अस्वस्थ साहित्य कभी समृद्ध जीवन-दृष्टि में जन्म नहीं ले सकता, और न वह पाठकों को वैसी जीवन-दृष्टि दे ही सकता है। इसलिए, अनुभूति के धरातल के पैमाने से ही, ऐसे साहित्य को निकृष्ट सिद्ध किया जा सकता है। हमें कहना है कि इस दृष्टि से डी० एच० लारेंस जैसे अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न लेखकों की कृतियाँ न निकृष्ट ही कही जा सकती हैं, न अश्लील। अवश्य ही लारेंस टॉल्स्टॉय जैसे कलाकारों की कोटि का लेखक नहीं है। टॉल्स्टॉय के 'वार एण्ड पीस' की प्रशंसा में एक लेखक ने लिखा है—

The reality of War and Peace is of three kinds : reality of character creation, reality of background, reality of moral law.

अर्थात् 'युद्ध और शांति' उपन्यास की यथार्थानुकारिता अथवा सचाई तीन प्रकार की है—चरित्र-सृष्टि की यथार्थता, पृष्ठिभूमि की यथार्थता और नैतिक सत्य की यथार्थता। हमारी कामना है कि उगती हुई तथा आगे आने वाली पीढ़ियों के हिन्दीपाठक और समीक्षक अपने लेखकों से इस प्रकार की वास्तविकता या सचाई की माँग करना सीखें, और प्रौढ़ता की विभिन्न कोटियों के समुचित मूल्यांकन की योग्यता सम्पादित करें।

: १३ :

आलोचना-सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ

जीवन की रागात्मक संभावनाओं के उद्घाटन या चित्रण को साहित्य कहते हैं, तथा साहित्य के विश्लेषण एवं मूल्यांकन को आलोचना। एक दृष्टि से आलोचना साहित्य-सृष्टि की सहकारी क्रिया है, किन्तु दूसरी दृष्टि से उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इन संक्षिप्त वक्तव्यों को पल्लवित करने की आवश्यकता है। हमने साहित्य को जीवन का नहीं, जीवन की सम्भावनाओं का उद्घाटन या चित्रण कहा है। यदि साहित्य जीवन की फोटोग्राफी मात्र होता तो शायद उसे आँकने के लिए समीक्षकों की जरूरत न होती। उस स्थिति में कोई भी व्यक्ति जीवन और साहित्य की एक-दूसरे से तुलना करके यह निर्णय दे देता कि विशिष्ट साहित्य सच्चा एवं श्रेष्ठ है या नहीं। क्योंकि साहित्य वैसा नहीं है, इसलिए समीक्षक के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विशिष्ट साहित्यिक कृति कहाँ तक जीवन्त एवं यथार्थ बन सकती है।

हमने कहा कि समीक्षक के मुख्य कार्य दो हैं, आलोच्य-साहित्य का विश्लेषण और उसका मूल्यांकन। समीक्षक की इन क्रियाओं को ठीक से समझने के लिए हमें साहित्य के स्वरूप पर कुछ और गहरी दृष्टि डालनी पड़ेगी। आज के युग में यह कहना एक साधारण बात है कि साहित्य की विषय-वस्तु एवं शैली बदलती रहती है। इस बदलने का कारण हमारी दी हुई परिभाषा में निहित है। प्रत्येक युग का जीवन विगत युगों से न्यूनाधिक भिन्न होता है। बदले हुए युग में, बदली हुई परिस्थितियों एवं वातावरण में, जीवन की सम्भावनायें भी बदल जाती हैं, इसलिए उन सम्भावनाओं का उद्घाटक साहित्य भी नया रूप धारण कर लेता है। एक जागरुक एवं प्राणवान् साहित्यकार प्राचीन साहित्य स्रष्टाओं की आवृत्ति नहीं करता; वह पाठकों के समक्ष नई रागबोधात्मक सम्भावनाओं का प्रत्यक्षीकरण करके उनकी जीवन-संवेदना को विस्तृत एवं समृद्ध बनाता है।

आॅल इण्डिया रेडियो, लखनऊ के सौजन्य से

बदली हुई जीवन-संभावनाओं के आलोक में वह जीवन सम्बन्धी नई दृष्टि अथवा नए मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। इसप्रकार का प्रयत्न बड़े लेखकों में ही उल्लेखनीय बन पाता है।

अब हम समीक्षक के कार्य को गम्भीरता से समझने की कोशिश करेंगे। किसी व्यक्ति अथवा जाति के जीवन की सफलता प्रायः इस पर निर्भर करती है कि वह जीवन सचेत अर्थात् चेतनासम्पन्न हो। चेतना या ज्ञान स्वतन्त्रता का उपकरण है। अपने परिवेश को हम जिस अनुपात में जानते हैं, उसी अनुपात में उस पर नियंत्रण कर सकते हैं। परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी उचित जानकारी प्राप्त करें। जड़ प्रकृति के नियमों से परिचित होकर वैज्ञानिकों ने हमारी चमत्कारपूर्ण सभ्यता को सम्भव बनाया है। विज्ञान की साधना, जड़ प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया, कठिन परिश्रम, मनोयोग एवं ऊँची प्रतिभा की अपेक्षा करती है। युग-जीवन की चेतना, एवं उस जीवन के जटिल सम्बन्ध-सूत्रों तथा संभावनाओं का उद्घाटन भी, प्रतिभा एवं साधना द्वारा ही साध्य हैं। कहने का मतलब यह है कि साहित्यकार जीवन की जिन जटिलताओं का रागबोधात्मक परिचय देना चाहता है। उनका परिज्ञान या बोध महत्वपूर्ण तो है ही, कठिन भी है। श्रेष्ठ साहित्य में निहित जीवन-सम्बन्धी संकेतों को साधारण पाठक सरलता से ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिए उन्हें आलोचक के विश्लेषण-रूप सहारे की आवश्यकता होती है।

सच यह है कि समीक्षक की दो क्रियाओं—विश्लेषण तथा मूल्यांकन—को अलग नहीं किया जा सकता। अपने विश्लेषण द्वारा समीक्षक दो बातें पाठकों के सामने लाता है—आलोच्य लेखक ने क्या कहना चाहा है, और वह उसे कितने प्रभावपूर्ण ढंग से कह सका है। यह दोनों ही बातें बताते हुए आलोचक मूल्यांकन करता चलता है। वह बतलाता है कि लेखक ने जो कहना चाहा है वह कितना महत्त्वपूर्ण तथा जटिल है— जीवन तथा युग की दृष्टि से कितनी सार्थकता रखता है; और दूसरे यह कि वह अपनी बात को कितने प्रभावशाली रूप में व्यक्त कर सकता है। अनुभूति के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए समीक्षक उसका सम्बन्ध जीवन की गहराइयों तथा युग की जटिलताओं से जोड़ता है।[1] आलोचक होने के नाते समीक्षक में यह क्षमता अपेक्षित नहीं है कि वह

---

[1]इस क्रिया को हम विशेषण से भिन्न व्याख्या Interpretation भी कह सकते हैं।

साहित्यकार की भांति जीवन की जटिलताओं को स्वयं देख सके, किन्तु उसमें इतनी योग्यता अवश्य होनी चाहिए कि वह लेखक की दृष्टि या सूझ की दाद दे सके। वस्तुतः लेखक और समीक्षक में मुख्य अन्तर यह होता है कि जहां द्वितीय में युग-जीवन की धुँधली चेतना होती है वहां प्रथम में चेतना अधिक स्पष्ट तथा मूर्त रूप लेती रहती है। जीवन तथा युग की सम्वेदना दोनों के लिए आवश्यक है; अन्तर उस सम्वेदना की स्पष्टता तथा तीव्रता में होता है। समीक्षक की अपेक्षा कलाकार की युग तथा जीवन-सम्बन्धी अनुभूति अधिक तीव्र एवं सशक्त होती है। बहुत हद तक समीक्षक लेखक का समानधर्मा होता है। वस्तुतः लेखक और समीक्षक उतने भिन्न नहीं होते जितना कि समझा जाता है। संसार के कुछ बहुत बड़े लेखक बहुत बड़े समीक्षक-विचारक भी हुए हैं, जैसे महाकवि गेटे, विख्यात उपन्यासकार टाल्स्टाय, तथा प्रसिद्ध कवि टी. एस. इलियट। अंग्रेजी साहित्य के तो अधिकांश परिचित लेखक तथा कवि अच्छे समीक्षक विचारक थे, और हैं। इस सम्बन्ध में ड्राइडन, पोप, शेली, वर्ड्‌स्वर्थ, मैथ्यू-आर्नल्ड, वर्जीनिया वुल्फ़, इजरापाउण्ड, हर्बर्ट रीड आदि के नाम लिए जा सकते हैं। फ्रांस का आन्द्रे जीद तथा जर्मनी का टामस मान भी इसी कोटि में आते हैं। पिछले दोनों लेखक बड़े उपन्यासकार हैं। हिन्दी लेखकों में महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, जैनेन्द्र, स० ही० वात्स्यायन तथा दिनकर ने साहित्य के सम्बन्ध में जहाँ-तहाँ चिन्तन किया है। साहित्य का बहुत बड़ा विचारक होने के लिए लेखक में एक चीज जरूरी है—स्वयं अपने साहित्य के प्रति तटस्थ दृष्टि। अधिकांश कलाकार एकांगी होते हैं, वे यदि अपने साहित्य की रोशनी में चिन्तन करने लगें तो उनका चिन्तन भी एकांगी हो जाता है। बड़े कलाकारों के साथ यह खतरा नहीं रहता। यही कारण है कि गेटे की तुलना में शेली तथा वर्ड्‌स्वर्थ साहित्य के एकांगी तथा घटिया विचारक हैं। यह कमी टी० एस० इलियट में नहीं है।

समीक्षक बतलाता है कि लेखक की रचना में कहाँ-कहाँ युग-जीवन तथा की उन शक्तियों के, जो युग जीवन को प्रभावित करती हैं, संकेत है, लेखक का युग-जीवन की जटिलता, विस्तार और गहराई से कितना परिचय है, और वह उस जीवन की समग्रता को कहां तक सम्बद्ध रूप में प्रतिफलित कर सका है। यदि लेखक ने जीवन के किसी एक पहलू को सशक्त अभिव्यक्ति दी है, अथवा युग-जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण समस्या पर प्रकाश डाला है, तो उसका संकेत भी समीक्षक को करना चाहिए। यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक लेखक विचारक ही हो और जीवन की किसी समस्या का समाधान देने का प्रयत्न

आवश्यक रूप में करे। विश्व में ऐसे अनेक महान् कलाकार हुए हैं जिन्होंने कोई नया-निराला जीवन-दर्शन न देकर जीवन की विशालता को अभिव्यक्ति ही दी है। शेक्सपीयर ऐसा ही महान् लेखक है। कालिदास ने स्वीकृत भारतीय दर्शन तथा संस्कृति की परिधि में ही जीवन को वाणीबद्ध किया है। यही बात सूर तथा तुलसी के सम्बन्ध में कही जा सकती है। ये लेखक या कवि अपने देश की विचारधाराओं से परिचित हैं, पर वे जीवन के विचारक नहीं हैं। उनके द्वारा चित्रित पात्रों के जीवन में जब कोई प्रश्न उठता है तो वे उसका समाधान स्वीकृत जीवन-दर्शनों के दायरे में कर देते हैं। यही बात इसाई कवि दान्ते पर लागू है।

इसके विपरीत संघर्ष तथा संक्रान्तिकाल के उस लेखक को जो जीवन के प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है स्वयं विचारक बनना पड़ता है। यह भी सत्य है कि किसी जीवन-दर्शन का सहारा लिए बिना कोई भी लेखक जीवन की समग्रता का आँकलन और अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। जीवन के किसी एक पक्ष को सशक्त अभिव्यक्ति देने के लिए भी किसी-न-किसी प्रकार की जीवन सम्बन्धी दृष्टि अथवा आस्था-भावना अपेक्षित है। प्रश्न यह है—साहित्यकार की इस दृष्टि या भावना के प्रति समीक्षक का क्या रुख होना चाहिए? विशेषतः, संक्रान्तिकाल के समीक्षक का इस सम्बन्ध में क्या मनोभाव होना चाहिए? कहाँ तक उसे अपना मूल्यांकन लेखक के जीवन-दर्शन से प्रभावित होने देना चाहिए?

ऊपर के प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें एक बात और देख लेनी होगी। व्यक्ति तथा समाज के सुख-दुःख, कल्याण-अकल्याण आदि के सम्बन्ध में प्रत्येक युग तथा संस्कृति में कुछ मान्यताएँ प्रचलित होती हैं। इन मान्यताओं में कुछ का सम्बन्ध तो पुरानी रूढ़ियों से होता है, और कुछ उन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह-भावना की पोषक होती है। बड़े लेखक प्रायः रूढ़ियों के पोषक नहीं होते, प्रायः वे रूढ़ियों का विरोध करते हैं। ऐसी दशा में उनकी जीवन-दृष्टि रूढ़िवादी आलोचकों को ग्राह्य नहीं होती। बहुत बड़े लेखक कभी-कभी प्रचलित विद्रोह मूलक मान्यताओं को भी स्वीकार नहीं कर पाते। पुरानी रूढ़ियों की भाँति वे नई रूढ़ियों की एकांगिता का भी भंडा फोड़ करने लगते हैं। ऐसी में छिछली मनोवृत्ति के तथाकथित प्रगतिशील समीक्षक भी लेखक के विरुद्ध हो जाते हैं। स्थिति यह है कि किसी भी मतवाद का समर्थक आलोचक लेखक को स्वयं विचार करने की स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता। आधुनिक युग में यह स्थिति और भी पेचीदा बन गई है। आज आलोचक लोग राजनैतिक मतवादों

से भी प्रभावित होने लगे हैं। ऐसे समीक्षक लेखक से सीधे यह मांग करते हैं कि वह किसी खास राजनैतिक सिद्धान्त या पार्टी का समर्थन करे। इस कोटि के आलोचक विशुद्ध राजनैतिक कारणों से विभिन्न लेखकों की निन्दा-स्तुति करते हैं। हमारी समझ में इसप्रकार की निन्दा-स्तुति एवं समीक्षा वाञ्छनीय नहीं है। समीक्षक लेखक से केवल एक मांग कर सकता है—यह कि वह उन कल्याणकारी प्रवृत्तियों का विरोध तथा अकल्याणकारी प्रवृत्तियों का समर्थन न करे जिनके सम्बन्ध में विश्व के अधिकांश श्रेष्ठ विचारकों का निश्चित मतैक्य है। उदाहरण के लिए आज की दुनिया में जनतन्त्र तथा समाजवाद के कतिपय सूत्र अधिकांश मानव-हितैषियों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं; अतः समीक्षक को यह अधिकार हो सकता है कि वह इनका विरोध करने वाले लेखकों की निन्दा करे। किन्तु उस दशा में भी ईमानदार समीक्षक को यह उचित नहीं होगा कि वह आलोच्य लेखक की शक्ति एवं प्रतिभा की दाद न दे।

सर्व-स्वीकृत मान्यताओं के विरोध के अतिरिक्त यदि साहित्यकार जीवन तथा सभ्यता के सम्बन्ध में अपनी सुचिन्तित दृष्टि सामने रखे तो समीक्षक को उसके आधार पर लेखक की निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि समीक्षक लेखक के जीवन-दर्शन के प्रति उदासीन हो। इस सम्बन्ध में समीक्षक के देखने की खास चीज यह है कि आलोच्य-लेखक अपनी जीवन-दृष्टि को कितनी गहराई एवं कलात्मक सचाई के साथ प्रकट कर सका है—उसकी जीवन-दृष्टि जीवन-सम्बन्धी यथार्थ के कितने गम्भीर परिचय पर आधारित है। अन्ततः कला-सृष्टि के मूल्यांकन का पैमाना यह है—उस सृष्टि में जीवन के मर्म-प्रसंगों एवं उसकी जटिल गुत्थियों की कितनी चेतना मूर्तिमती हो सकी है।

संक्षेप में, हमारी आलोचनात्मक दृष्टि के यही मूलतत्व हैं। आलोचक को कृति-विशेष में निबद्ध अनुभूति का विश्लेषण करना चाहिए। यह विश्लेषण आलोचना का ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय पक्ष है। इसप्रकार का विश्लेषण करने के लिये यह जरूरी है कि आलोचक को अपने युग की जीवन-स्थितियों, विचारधाराओं एवं समस्याओं की न्यूनाधिक चेतना हो। दूसरे, आलोचक को यह बता सकना चाहिए कि अभिव्यक्त अनुभूति कितनी प्राणवान् हो सकी है। इस दृष्टि से हम आलोचना को रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या कह सकते हैं। अपने विश्लेषण द्वारा समीक्षक पाठक में उन तत्वों की चेतना जगाता है जो आलोच्य कृति को रसमय अथवा नीरस बनाते हैं। तीसरे, समीक्षक में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह किसी लेखक अथवा रचना के समूचे कृतित्व का

माप या मूल्यांकन कर सके—यह बतला सके कि विशिष्ट लेखक या कृति का धरातल क्या है, उसमें कितनी प्रौढ़ता है और उसकी गणना विश्वसाहित्य के किन लेखकों अथवा कृतियों के साथ होनी चाहिए। जहाँ समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह अपेक्षा रखता है कि समीक्षक का अपने युग के जीवन तथा विचारों से परिचय हो, वहाँ कृतित्व के नाप-जोख के लिये यह आवश्यक है कि समीक्षक का विश्वसाहित्य के श्रेष्ठ कलाकारों एवं कृतियों से गहरा परिचय हो। स्पष्ट ही इसप्रकार का आदर्श समीक्षक बनना साधारण प्रतिभा एवं साधना वाले लेखकों के लिये साध्य नहीं है।

: १४ :

एक भूमिका*

आलोचकों के सम्बन्ध में लिखित निबन्धों के किसी संग्रह की भूमिका लिखना—मान्य आलोचकों के बारे में टिप्पणी करना—खतरे से खाली नहीं, विशेषतः एक ऐसे लेखक के लिये जो सृजनात्मक साहित्य में भी दख़ल रखता हो। दूसरी कठिनाइयाँ भी हैं, इन निबन्धों की भूमिका में मुख्यतः आलोच्य समीक्षकों के बारे में लिखा जाय, अथवा आलोचक लेखकों के? भूमिकाकार आलोच्य समीक्षकों का नये सिरे से मूल्यांकन करें, अथवा प्रस्तुत मूल्यांकनों का ही महत्व आँकें? वह एक ऐसे मानदण्ड को पाने की कोशिश करें जिससे विभिन्न समीक्षकों को जाँचा जा सके, अथवा उन पैमानों की परीक्षा करे जिनका संगृहीत निबन्धों में, जाने या अनजाने प्रयोग किया गया है?

साहित्य का उद्देश्य क्या है, एवं साहित्य-समीक्षा का उद्देश्य क्या है, ये बड़े प्रश्न हैं, और किसी भी बड़े प्रश्न का उत्तर एक व्यापक जीवन-दर्शन के संदर्भ की शरण लिये बिना नहीं दिया जा सकता। साहित्य-सृष्टि और साहित्य-समीक्षा दोनों सांस्कृतिक प्रयत्न हैं; उनके स्वरूप एवं उपयोगिता की व्याख्या करने के लिये यह ज़रूरी है कि स्वयं संस्कृति एवं जीवन के स्वरूप अथवा उपयोगिता के सम्बन्ध में हमारी कोई सुचिन्तित धारणा हो। स्पष्ट ही इस भूमिका में प्रस्तुत लेखक की वैसी धारणाओं का विशद विवेचन नहीं किया जा सकता; फलतः वह अपने समीक्षा-सम्बन्धी विचारों को भी अधूरे रूप में ही प्रकट कर सकता है।

साहित्य जीवन की रागात्मक सम्भावनाओं का उद्घाटन अथवा चित्रण है। बदलते हुए सांस्कृतिक तथा भौतिक परिवेश में जीवन की सम्भावनाएँ भी

---

*राजकमल, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियां' की भूमिका-रूप में लिखित।

बदलती रहती हैं, जिनके फलस्वरूप नये साहित्य की सृष्टि अपेक्षित हो जाती है। साहित्यकार अपने पाठक में नवीन परिवेश की चेतना जगाता है और उस परिवेश की अपेक्षा में रागात्मक जीवन की सम्भावनाओं का निरूपण करके पाठक के जीवन-स्पन्दन को वेगपूर्ण एवं समृद्ध बनाता है। हमारी धारणा है कि हर प्रकार का सांस्कृतिक प्रयत्न, साहित्य की भाँति ही, जीवन-प्रक्रिया को तीव्र एवं समृद्ध करने का एक उपकरण होता है।

समीक्षा भी एक ऐसा ही प्रयत्न है। समीक्षक का पहला कार्य यह है कि वह आलोच्य कृति का विश्लेषण करे, अर्थात् यह बताने का प्रयत्न करे कि साहित्यकार जीवन के, जिसमें बाह्य परिवेश एवं आन्तरिक प्रतिक्रिया दोनों का समावेश है, किस पहलू का उद्‌घाटन करने बैठा है; उस पहलू के उद्‌घाटन का साहित्यकार के युग के लिये क्या महत्व है। समीक्षा का यह पक्ष समाज-शास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक पक्ष कहा जा सकता है। दूसरे, समीक्षक को यह बता सकना चाहिये कि आलोच्य कृति में जीवनानुभूति, अथवा उसका प्रकाशन, कितना सप्राण एवं प्रौढ़ हो सका है। सब प्रकार के साहित्य में रस लेने वाले पाठक समाज में होते हैं—ऐसे भी पाठक हैं जो तुलसी के 'मानस' की अपेक्षा राधेश्याम कथावाचक की 'रामायण' में अधिक रस लेते रहे हैं—किन्तु मूल्यांकन के लिये श्रेष्ठतम पाठकों की रुचि को ही मानदण्ड बनाया जा सकता है। जहाँ विश्लेषण द्वारा समीक्षक साहित्यकार के कार्य को आगे बढ़ाता है, अर्थात् पाठकों की रागमूलक बोध-चेतना के उन्मेष में, उस चेतना को बुद्धि के सामान्य प्रतीकों द्वारा पकड़ा देने में, सहायक होता है, वहाँ वह दूसरी ओर जातीय रुचि के परिष्कार एवं उस रुचि के पैमानों के संरक्षण का काम भी करता है।

संक्षेप में, श्रेष्ठ समीक्षक में दो योग्यतायें होनी चाहियें—एक, आलोच्य कृति के कलात्मक सौष्ठव अथवा उसकी प्रौढ़ता के परीक्षण की योग्यता; दूसरे, कृति में निबद्ध अनुभूति के युग-सापेक्ष मूल्य या महत्व को परखने की शक्ति। प्राचीन साहित्य के समीक्षक में यह देखने की क्षमता भी होनी चाहिये कि आलोच्य कृति का कितना और कौन-सा अंश समकालीन पाठकों के लिये रसात्मक सार्थकता रखता है।

: २ :

ऊपर हमने जिस आदर्श समीक्षक का वर्णन किया है, उस कोटि के समीक्षक किसी जाति अथवा युग के साहित्य को कठिनाई से मिलते हैं, और कम ही मिलते हैं। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य ने

अभी तक उक्त श्रेणी का सर्व-शक्ति-संपन्न समीक्षक एक भी उत्पन्न नहीं किया। हमारे सर्वश्रेष्ठ समीक्षक आचार्य शुक्ल हैं; किन्तु उनमें भी कमियाँ हैं। शुक्ल जी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कमी सांस्कृतिक है; वे पूरी तरह आधुनिक नहीं हैं। वे यह नहीं जानते कि उनके अपने युग में जीवन की कौन-सी नई माँगें और सम्भावनायें हैं, जिनका प्रकाशन समकालीन साहित्य में हो रहा है, और होना चाहिये। इस कमी के कारण शुक्ल जी एक महत्वपूर्ण आलोचक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाते, अर्थात् समसामयिक साहित्य का सफल मूल्यांकन। किन्तु शुक्ल जी में श्रेष्ठ आलोचक की एक शक्ति पूर्णतया विकसित है, अर्थात् कलात्मक सौष्ठव अथवा व्यक्तिगत प्रौढ़ता को आँकने की शक्ति। इसके साथ ही शुक्ल जी में बौद्धिक विश्लेषण की भी पूर्ण क्षमता है, जिसका मतलब है कि वे काव्य की अनुभूत विशेषताओं को बुद्धि की, अर्थात् सामान्य धारणात्मक प्रतीकों (Conceptual-categories) की भाषा में प्रकट करने की पूर्ण योग्यता रखते हैं। शुक्ल जी में साहित्यिक अभिव्यक्ति अथवा अनुभूति की उन विशेषताओं को, जो उसे प्रौढ़ एवं रसपूर्ण बनाती हैं, विश्लेषित करने एवं नाम देने की अद्भुत क्षमता है। इस क्षमता का सम्पादन वे पाठक ही कर सकते हैं जो प्रतिभाशाली होने के साथ-साथ, उच्चतम साहित्य के ईमानदार सततसेवी भी हैं।

अपने सुन्दर निबन्ध में श्री शिवनाथ जी ने शुक्ल जी के अनेक सूक्ष्म मन्तव्यों का सफल निर्देश किया है। हम उनके इस कथन से सहमत हैं कि शुक्ल जी के इतिहास में इतिहास-तत्व की अपेक्षा समीक्षा-तत्व ही प्रधान है। शुक्ल जी साहित्य में पहले कलात्मक सौष्ठव अथवा अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता खोजते हैं, बाद में कुछ और।

शिवनाथ जी ने शुक्ल जी के सम्बन्ध में दो-एक बातें बड़े मार्के की कही हैं। "शुक्ल जी ने जो विचार व सिद्धान्त व्यक्त किये हैं, वे पचे-पचाये हुए उनके अपने हैं।" और "कहीं उन्होंने 'उड़ती सम्मति' नहीं दी है।" शिवनाथ जी के इन वाक्यों को भाष्य की आवश्यकता है। अपनी समीक्षा में शुक्ल जी सिर्फ उन्हीं पैमानों का प्रयोग करते हैं जिनकी सच्चाई का, अपने विस्तृत अध्ययन के क्षणों में, उन्होंने साक्षात्कार किया है। वह सिर्फ और उतने ही पैमानों का प्रयोग करते हैं जो उन्हें अध्ययन-रूप अनुभूति के द्वारा प्राप्त हुये हैं। वे सुने-सुनाये, प्रख्यापित एवं प्रचारित वादों या पैमानों का उपयोग नहीं करते; वे ऐसे मानों से, अथवा उनका संकेत करने वाले वादों से प्रभावित नहीं होते। साथ ही वे स्वानुभूत मानों का प्रयोग बड़े

आग्रह, आत्मविश्वास एवं शक्ति के साथ करते हैं। शुक्ल जी की समीक्षा सचेत पैमानों पर और वे पैमाने ठोस रसानुभूति पर आधारित रहते हैं। यही कारण है कि उनकी समीक्षा इतनी गुरु-गम्भीर एवं शक्तिपूर्ण जान पड़ती है। शुक्ल जी एक नवोदित, अर्धविकसित साहित्य के नहीं, अपितु किसी दूसरे समृद्ध साहित्यिक युग के समीक्षक हैं। शुक्ल जी के अध्ययन एवं अनुभव की पृष्ठभूमि हिन्दी के और शायद संस्कृत के, विकसित युगों का साहित्य है, वर्तमान हिन्दी का अविकसित अथवा अर्धविकसित साहित्य नहीं।

: ३ :

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद-युग के प्रथम प्रभावशाली समीक्षक हैं; आधुनिक हिन्दी के शुक्लोत्तर समीक्षकों में उनका ऊँचा स्थान है। वाजपेयी जी शुक्ल जी के शिष्य हैं, ऐसे सुयोग्य शिष्य जो अनेक स्वतंत्र, शक्तिमान व्यक्तित्व द्वारा गुरु की एकांगिता का विरोध कर सकते हैं। यह विरोध इस बात का द्योतक था कि शिष्य को अपनी इस ग्राहिता में उतनी ही आस्था और विश्वास है जैसा कि गुरु को। वर्तमान हिन्दी के कम आलोचकों ने अपनी प्रतिभा का इतना साहसपूर्ण परिचय दिया है। वस्तुतः यदि वाजपेयी जी में साहस और प्रतिभा का सहज संयोग न होता तो वे शुक्ल जी का इतना दृढ़ विरोध न कर पाते और नवोदित छायावादी काव्य को वह बौद्धिक अवलम्ब न दे पाते जो उन्होंने दिया।

ऊपर हमने कहा था कि शुक्ल जी अर्धविकसित हिन्दी-साहित्य के विशिष्ट युग के लेखक नहीं प्रतीत होते। समसामयिक साहित्य को वे सुदूर ऊँचाई से देखते जान पड़ते हैं। अपने इतिहास में उन्होंने आधुनिक साहित्यकारों पर लिखा है, किन्तु उनमें से अधिकांश में उनका मन नहीं रमा है। इसके विपरीत वाजपेयी जी सम्पूर्ण अर्थ में अपने युग के लेखक हैं। इस दृष्टि से उन्होंने (१) नई प्रतिभाओं को अपना समर्थन एवं प्रोत्साहन दिया; (२) आधुनिक हिन्दी के पाठकों का रुचि-परिष्कार किया; और (३) आलोचक-क्षेत्र में नई दृष्टियों के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया।

एक कम विकसित साहित्य के युगीन लेखक की कुछ कठिनाइयाँ होती हैं, जिनके कारण वह अपनी साहित्य-साधना को अखण्ड रूप में अपनी प्रतिभा के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं रख पाता। उसे साधारण समस्याओं तथा मामूली रचनाओं पर अपनी राय प्रकट करनी पड़ती है और प्रगति एवं प्रवृत्तियों की क्षुद्रतम गति-विधि का हिसाब रखना पड़ता है। समीक्षक यदि

ऐसे साहित्य का शिक्षक भी हो तो उसका यह दुर्भाग्य और भी बढ़ जाता है। 'प्रिय प्रवास' 'साकेत' और 'कामायनी' के भी अध्यापक के भाग्य में वह रस नहीं हो सकता जो कालिदास, भवभूति अथवा गेटे के शिक्षक को सुलभ होगा। हम संकेत कर रहे है कि बाजपेयी जी द्वारा लिखित पचासों लेखों तथा कृतियों की समीक्षाओं में जो गुणात्मक विषमता है, उसका बहुत-कुछ कारण उनका परिवेश तथा परिस्थितियाँ हैं। आज यदि बाजपेयी जी की अनेक सम्मतियाँ और अनुभूतियाँ त्रुटिपूर्ण दिखाई देने लगी हैं, जिनमें उन्हें स्वयं भी संशोधन करने पड़ गये हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। बात यह है कि बाजपेयी जी के प्रवेश के बाद हिन्दी-आलोचना जिन नये पथों पर चलने लगी उन्हें आलोकित करने वाली समृद्ध परम्परा हमारे साहित्य के पास नहीं थी।

डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र ने बाजपेयी जी को सौष्ठववादी आलोचक कहा है, जो विशेष उपयुक्त है। बाजपेयी जी ने हिन्दी समीक्षा को प्रबन्ध-काव्य-वाद तथा "मर्यादावाद" के कठिन दायरों से मुक्ति पाने में मदद दी और उसे प्रगीत काव्य के सौष्ठव से परिचित होने का उत्साह दिया।

उक्त लब्धियों के बावजूद बाजपेयी जी शुक्ल जी की कक्षा के समीक्षक नहीं जान पड़ते। इसका क्या कारण है? ऊपर हमने कहा है कि कतिपय अनिवार्य परिस्थितियाँ इसके ख़िलाफ़ थीं कि बाजपेयी जी अथवा कोई दूसरा युगीन आलोचक अपनी प्रतिभा का उच्चतम उपयोग कर सके। किन्तु प्रस्तुत प्रश्न दूसरा है—प्रश्न यह है कि उक्त दो समीक्षकों के गुणात्मक भेद को किस प्रकार विश्लेषित किया और समझा जाय?

शुक्ल जी की दुर्जेय शक्ति के रहस्य का संकेत हमने किया था—शुक्ल जी जिन-जिन मानों का प्रयोग करते हैं वे उनके द्वारा सुचिन्तित और अनुभूत हैं। शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों एवं समीक्षा-क्रिया में परिपूर्ण सामंजस्य है। बाजपेयी जी में यह सामंजस्य उतना पूर्ण नहीं है। वस्तुतः शुक्ल जी के बाद के किसी भी आलोचक में उस प्रकार का पूर्णसामांजस्य दिखाई नहीं देता। उत्तर-काल के प्रायः सभी आलोचक न्यूनाधिक मात्रा में ऐसे सिद्धान्तों या समीक्षा-सूत्रों का प्रयोग करते हैं जो उनके साहित्यिक अनुभव पर आधारित नहीं हैं और बाहरी स्रोतों से ग्रहण या प्राप्त किये गये हैं। इस प्रकार के मानों के प्रयोग जिन में परिपूर्ण-पारस्परिक संगति स्थापित नहीं हो पाती, अक्सर पाठकों के मन में उल्लास एवं अविश्वास की भावना पैदा करते हैं, जिनके फलस्वरूप वे समीक्षक की शक्ति से प्रभावित नहीं हो पाते। अपनी प्रतिनिधि रचना 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की भूमिका के

अन्तिम भाग में वाजपेयी जी ने समीक्षा एवं मूल्यांकन के सात सूत्रों का उल्लेख किया है; वाजपेयी जी की कृतियों से यह स्पष्ट नहीं होता कि उन्होंने इन सूत्रों को कितनी गहरी छानबीन करके प्राप्त किया है। इन विभिन्न सूत्रों के आपेक्षिक महत्व के सम्बन्ध में भी उनकी स्थिति बहुत-कुछ अनिश्चित जान पड़ती है। उदाहरण के लिए पाठक उनके निम्न वक्तव्यों में निहित मन्तव्यों का विचार करें।

(१) समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिये, किन्तु जिसे शुक्ल जी ने बार-बार भुला दिया है, वह है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। (पृ० ८३)

(२) शुक्ल जी ने यह भी नहीं बतलाया कि अत्याचारी अत्याचार के लिए क्यों सन्नद्ध होता है। क्या यह उसका सहज गुण है या समाज की ही देन है ?

उक्त दोनों बातें वाजपेयी जी की समीक्षक प्रकृति के उदार पहलू को प्रकट करती हैं, किन्तु वे उनके स्वतंत्र चिन्तन का फल नहीं हैं। इसका प्रमाण उनके दूसरे वक्तव्य हैं।

(३) यह व्यक्तिवाद की प्रखर धारा सामाजिक उपकूलों को डुबोकर उमड़ कर बहना चाहती है। यह हमारे समस्त दृढ़ मूल संस्कारों को उखाड़ फेंकने की चिन्ता कर रही है...... हमें सावधान रहना होगा।......इस विषय में यूरोप की नवीन विचारधारा हमारे यहाँ से मेल नहीं खा सकती। (भूमिका पृ० ३७) अन्ततः वाजपेयी जी मर्यादावादी शुक्ल जी के शिष्य हैं। किन्तु उद्धरण (२) का क्या तात्पर्य है। दास्ताएव्स्की नैतिक है या अनैतिक ?

(४) विगत युग के संस्कारों की स्थापना नव्यतर युग में करना निसर्गतः एक कृत्रिम प्रयास है। (पृ० २१)

वाजपेयी जी ने किसी सुचिन्तित मन्तव्य के बल पर कहीं यह निर्देश करने का प्रयत्न नहीं किया है कि विशाल प्राचीन भारतीय संस्कृति का कौन-सा अंग रक्षणीय है और कौन नहीं, तथा योरपीय संस्कृति से क्या ग्रहणीय है अथवा नहीं, और क्यों। 'आधुनिक साहित्य' में उन्होंने फ्रायडवादियों तथा प्रयोगवादियों पर रोष और व्यंग किये हैं। यथा—

(५) एक नये प्रकार की साहित्यिक धारणा अवश्य चल पड़ी है...... कि साहित्य की सृष्टि अक्सर भले आदमी नहीं करते।

(६) काव्य-क्षेत्र प्रयोगों की दुनिया से बहुत दूर है। (कवि का) दूसरा

उत्तरदायित्व काव्य-परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है।

अन्तिम उद्धरण की उ० सं० (१) और (५) से तुलना कीजिये।

इन उद्धरणों को उपस्थित करने का मतलब सिर्फ यह दिखाना है कि वाजपेयी जी की मान्यताओं के पीछे व्यवस्थित चिन्तन का बल नहीं है और वे साहित्यिक अनुभूति से उत्थित होती भी नहीं जान पड़तीं। वस्तुतः जो समीक्षक साहित्यकारों के जीवन-दर्शन, उनकी नैतिकता आदि पर टिप्पणी करे उसे बहुत बड़ा सांस्कृतिक विचारक होना चाहिये, जो कि हरएक के लिये साध्य नहीं है। मान लीजिये कि फ्रायड का यह सिद्धान्त सत्य ही हो कि अधिकांश साहित्यकार सामाजिक कुंठाओं की तृप्ति के लिए साहित्य-सृष्टि करते हैं और अधिकांश पाठक इसीलिए साहित्य पढ़ते हैं, तो क्या भारतीय या किसी संस्कृति के नाम पर उस सत्य को ठुकरा देने से मनुष्य का कल्याण होगा?

वाजपेयी जी पर यह लम्बी टिप्पणी करने का हमारा मुख्य प्रयोजन यह है कि उन्हें उपलक्ष्य बनाते हुए, हम पाठकों को यह प्रतीति करायें कि शक्तिमान समीक्षक बनने की यह अनिवार्य शर्त है कि समीक्षक केवल उतने ही और उन्ही पैमानों का प्रयोग करे जिनका उसने अपनी अध्ययन-अनुभूति में ईमानदारी से साक्षात्कार किया है, और जिन्हें उसने दीर्घ चिन्तन द्वारा आत्मसात् कर लिया है। दूसरे, हमारी कामना और निवेदन है कि वाजपेयी जी अपनी मान्यताओं को और स्पष्ट आधार देने का प्रयत्न करें।

वाजपेयी जी शुक्ल जी के समकक्ष विचारक भले ही न हों पर उनकी रस-संवेदना निश्चय ही परिपक्व है और उनमें उसके विश्लेषण की शक्ति भी है। उदाहरण—'गुप्त जी की आदर्शवादिता में औदात्य उतना नहीं है जितनी एक भावुकतामय नैतिकता' (हिन्दी स० बी० श०, ३२); 'केशवदास की उस (छन्दों की) बहुलता की अपेक्षा गोस्वामी जी की चौपाइयों की तरंग-भंगिमा अधिक रमणीय, काम्य और उपयुक्त हुई हैं', (पृ० ४६) 'साकेत के कवि में भक्ति-भावना का अतिशय्य नहीं, बल्कि कमी है', (पृ० ५२) इत्यादि। माचवे की 'इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि।' पंक्ति पर वाजपेयी जी की यह टिप्पणी कितनी सटीक है—'प्राण' और बुद्धि के बीच में हाथ किस बारीकी से बैठा है।' (आधुनिक साहित्य, ३८) हमारा विश्वास है कि इस प्रकार की टिप्पणियों का आदर करने से प्रयोगवादी काव्य लाभान्वित होगा। इसी प्रकार 'बीसवीं शताब्दी' में वाजपेयी जी ने 'अनूप' और 'रत्नाकार' के कवित्तों के संगीत पर जो टिप्पणी की है, वह उनकी संगीत संवेदना और विश्लेषण-क्षमता दोनों का प्रमाण है।

: ४ :

वाजपेयी जी ने बहुत स्थान ले लिया। छायावाद-युग के सहानुभूतिपूर्ण समीक्षकों में डा० नगेन्द्र का विशिष्ट स्थान है। रसग्राहिता और विश्लेषण में वे शुक्ल जी के सुयोग्य बौद्धिक शिष्य एवं वाजपेयी जी के श्रेष्ठ साथी हैं। नगेन्द्र जी ने कहीं 'जीवन-दर्शन' एवं 'नैतिकता' के नाम पर किसी लेखक को भला-बुरा नहीं कहा है। उन्हें आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में 'एकदम विश्वास नहीं है।' (विचार और अनुभूति पृ० १२३) वाजपेयी जी की अपेक्षा वे अधिक संगत सौष्ठववादी एवं आनन्दवादी हैं। जैसा कि श्री जगदीश गुप्त ने कहा है, वे 'रसवाद' के गम्भीर अध्येता और समर्थक हैं। साहित्य में वे मुख्यतः 'रस' की खोज करते हैं। वे काव्यानुभूति के सूक्ष्मतम संवेदनों को ग्रहण और विश्लेषित कर सकते हैं। यह विशेषता दुर्लभ है, विशेषतः वादग्रस्त समीक्षकों में। 'विचार और अनुभूति' में नगेन्द्र ने पंत और महादेवी की काव्यानुभूति के सूक्ष्म प्रभेदों को सफलता से निरूपित किया है—'भाषा के रंगों को हल्के-हल्के स्पर्श से मिलाते हुए मृदुल-तरल चित्र आँक देना उनकी (महादेवी जी की) कला की विशेषता है। पन्त की कला में जड़ाव और कटाई है, फलतः उनके चित्रों की रेखाएँ पैनी होती हैं। महादेवी की कला में रंग-घुली तरलता है, जैसी कि पंखुड़ियों पर पड़ी ओस में होती है।' (विचार और अनुभूति, पृ० १२७) श्री सियाराम शरण गुप्त पर उनकी यह संक्षिप्त टिप्पणी कितनी सार-गर्भित और सार्थक है—'उन्होंने 'भक्ति' को बचाकर भुक्ति की साधना की है, इसलिए इस कविता में जीवन का स्वाद कम है। (सियारामशरण गुप्त, ६६)

नगेन्द्र की शैली परिमार्जित और ओजस्विनी है। वह कभी, विशेषतः इधर की कृतियों में, अपने विशिष्ट धरातल से स्खलित नहीं होती। उनके निबन्धों एवं वक्तव्यों में हमें छिछलेपन या जल्दबाजी की गन्ध नहीं मिलती।

किन्तु नगेन्द्र में रसानुभूति के अनुरूप मौलिक एवं परिपक्व सांस्कृतिक दृष्टिकोण दिखाई नहीं देता; उनकी प्रवृत्तियों एवं वादों के विश्लेषण की शक्ति भी सीमित है। उनकी रचनाओं में हमें यह आभास कम मिलता है कि उन्हें वर्तमान युग की सांस्कृतिक विचारधाराओं एवं समस्याओं की गहरी चेतना है। उन्होंने 'रसवाद', 'रिचर्ड्स' आदि को मनोयोग से पढ़ा है, पर युग के सांस्कृतिक संघर्षों से तटस्थ-से रहे हैं। प्रस्तुत लेखक भी मानता है कि साहित्यकार की जीवन-दृष्टि पर ममता प्रकट करना समीक्षक का विशिष्ट कार्य नहीं है—यहाँ वह नगेन्द्र की समीक्षा-शैली का समर्थक है—किन्तु साथ

ही उसकी धारणा है कि समीक्षक में आलोच्य लेखक के सांस्कृतिक या विचारात्मक पक्ष को विश्लेषित करने, तथा उसकी गहराई एवं ऊँचाई नापने को आँकने की क्षमता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इसके बिना समीक्षक लेखक की खण्ड अनुभूतियों का विश्लेषण भर कर सकता है किन्तु उसके समग्र कृतित्व का माप और उसकी श्रेणी (Rank) का निर्धारण नहीं कर सकता।

: ५ :

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री गुलाबराय सम्बन्धी निबन्धों में आलोच्य व्यक्तियों पर इतनी मार्मिक सहानुभूति और अपेक्षित तटस्थता के साथ लिखा गया है कि उन पर टिप्पणी करना अनावश्यक मालूम पड़ता है। फिर भी प्रथम व्यक्तित्व पर कुछ कहने को जी होता है। हम सीधे प्रश्न करें—द्विवेदी जी की लिखी चीजें इतनी ठोस एवं सबल क्यों जान पड़ती हैं? हमारे विचार से इस ठोस पन का आधार वही है जिसका उल्लेख शुक्ल जी के सम्बन्ध में किया गया—द्विवेदी जी ऐसा कोई वक्तव्य प्रायः नहीं देते जो दीर्घ अध्ययन और चिन्तन का फल नहीं हैं, जिसकी सत्यता का उन्होंने न्यूनाधिक साक्षात्कार नहीं किया है। सब प्रकार के प्रथम श्रेणी के लेखकों की—साहित्यकारों, विचारकों, पण्डितों आदि सभी की—यह सार्वत्रिक विशेषता है। यही कारण है कि ऐसे लेखकों की रचना में एक ऐसी शक्ति होती है जो अनुकरण से लभ्य नहीं है।

द्विवेदी जी मुख्यतः एक पण्डित हैं, एक महापण्डित या स्कालर, जिनका प्रभुत्व क्षेत्र सांस्कृतिक इतिहास है। साथ ही उनके व्यक्तित्व में मानववादी जीवन-दृष्टि का आवेगात्मक आकलन भी है। यदि द्विवेदी जी इस दृष्टि को समग्रता में आत्मसात् न कर चुके होते तो वे ऐसे सशक्त उद्गार न प्रकट कर पाते जैसे उन्होंने जगह-जगह किये हैं—'मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है। वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है··· शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।' मनुष्य की इस दुर्दम जीवनेच्छा में द्विवेदी जी की पूर्ण आस्था है। इसीलिए वे बुद्धिवादी होने के साथ-साथ, पक्के आशावादी भी हैं। शायद इसीलिए वे वर्तमान युग की सन्देह, क्षोभ, नैराश्य आदि भावनाओं से सहानुभूति नहीं कर पाते, और उन साहित्यकारों के सम्बन्ध में अन्वेषण-विवेचन करना पसन्द करते हैं जिन्होंने उक्त जीवन-दृष्टि को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। निरा कलात्मक सौष्ठव उन्हें उतना

आकृष्ट नहीं करता। इस दृष्टि से वे शुक्ल जी तथा अन्य उल्लिखित समीक्षकों से भिन्न हैं। वस्तुतः द्विवेदी जी एक शुद्ध समीक्षक नहीं हैं। वर्तमान लेखकों के आग्रहपूर्ण मूल्यांकन से वे प्रायः कतराते रहे हैं। वे उन आलोचकों में नहीं हैं जो समसामयिक साहित्य की दिशा एवं मूल्यांकन का निर्धारण करते हैं। उन्हें इसकी भी विशेष चिन्ता नहीं कि वर्तमान साहित्य के मूल्यांकन में कहाँ कितनी गड़बड़ हो रही है। जीवनेच्छा के स्तोता होते हुए भी वे वर्तमान जीवन या साहित्य की समस्याओं से तटस्थ दिखाई देते हैं। यही कारण है कि जहाँ सभी वादों के समर्थक उनकी विद्वत्ता का आदर करते हैं, वहाँ कोई भी गलामल की विशेष परवाह नहीं करता।

द्विवेदी जी की मेकडानल्ड, विण्टरनित्स आदि से जो तुलना की गई है वह बहुत समीचीन है। यदि हिन्दी के क्षेत्र में ऐसे दस-बीस विद्वान होते तो सम्भवतः द्विवेदी जी को समीक्षक कहने की भूल न की जाती। योरपीय साहित्यों के समीक्षात्मक इतिहासों में इस कोटि के विद्वानों अथवा लेखकों का परिगणन समीक्षकों में नहीं किया जाता। द्विवेदी जी. साहित्य के साधारण इतिहासकारों से भिन्न और महत्तर हैं। साहित्य संस्कृति की एक अभिव्यक्ति है। साहित्य के इतिहास द्वारा समग्र जातीय संस्कृति पर प्रकाश डालना द्विवेदी जी का लक्ष्य है।

श्री विजयेन्द्र स्नातक ने श्री गुलाबराय की समन्वय-वृत्ति पर बल दिया है। एक अध्यापक में यह वृत्ति सराहनीय कही जा सकती है। किन्तु चिन्तन के क्षेत्र में समन्वय तभी सफल एवं सार्थक होता है जब विभिन्न मतवाद चिन्तक की अनुभूति में पिघलकर रासायनिक ऐक्य प्राप्त करें। भारतीय संस्कृति ने जहाँ इस प्रकार के सजीव समन्वय किये हैं वहीं यह शक्तिमती है। अनुभूति के आधार से वंचित निर्जीव समन्वय हितकर नहीं होता। भविष्य के समन्वयवादियों को हमारी यह आवश्यक चेतावनी है। प्रस्तुत लेखक ने गुलाबराय जी का विशेष अध्ययन नहीं किया। अतः वह उनके सम्बन्ध में निर्णय देने का अधिकारी नहीं है।

: ६ :

श्री जगदीश गुप्त ने प्रगतिवाद की लब्धि और कमियों का समुचित उल्लेख किया है। प्रगतिवाद की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने शुक्ल जी के 'प्रबन्ध काव्यवाद' अथवा 'सामाजिक एवं लोक-मंगलवाद' को अपेक्षित नवीनता का जामा पहनाकर उपस्थित किया। हिन्दी समीक्षा में समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण प्रगतिवाद का विशेष दान कहा जा सकता है, यद्यपि उसके

बीज शुक्ल जी की समीक्षाओं में मौजूद हैं। श्री शिवदानसिंह चौहान ने मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि को समझाने का विशेष प्रयत्न किया है। उनकी सबसे बड़ी कमी है—साहित्यिक रसग्राहिता का अभाव। हम इससे सहमत नहीं हैं कि प्रगतिवादियों में वे 'सबसे उदारमना व्यापक समीक्षा-दृष्टि सम्पन्न आलोचक हैं।' अपनी 'प्रगतिवाद' पुस्तक के पृष्ठ १४६-१४७ पर उन्होंने लिखा है कि जहाँ 'जैनेन्द्र' और 'अज्ञेय' की कहानियों में शिथिलता बढ़ती जा रही है वहाँ यशपाल और अश्क की कला में निरन्तर निखार और सौष्ठव आता जा रहा है। अश्क के 'गिरती दीवारें' उपन्यास की शिवदान जी ने (प्रतीक में) विशेष प्रशंसा की थी। किन्तु इधर वे अश्क से अप्रसन्न और जैनेन्द्र जी से विशेष प्रसन्न जान पड़ते हैं। इस प्रकार के निर्णयों में साहित्यिक रसग्राहिता के प्रमाण खोजना व्यर्थ है। ऐसी आलोचनायें न पाठक की रुचि का परिष्कार कर सकती हैं, न लेखकों का समुचित प्रोत्साहन।

श्री रामविलास शर्मा की 'निराला', 'प्रेमचन्द', 'भारतेन्दु युग' आदि पुस्तकें अपने ढंग की उत्तम हैं। शर्मा जी साहित्य में जनवादी तत्व खोजते हैं और उन्हें देखने की विकसित क्षमता रखते हैं। उनकी कमी यह है कि वे साहित्यिक महत्व के दूसरे उपादानों को देखने से इन्कार करते हैं। जब हम कहते हैं कि एक लेखक महान् है, तो इसका मतलब यह होता है कि उसने मानवीय जीवन और संस्कृति के लिए महत्वपूर्ण दान दिया है। समीक्षक का कर्तव्य है कि वह इस दान को सचाई से समझने का प्रयत्न करे। यदि समझदार पाठक यह महसूस करते हैं कि टॉलस्टाय प्रेमचन्द से बड़े कलाकार हैं तो सच्चा समीक्षक इससे इन्कार नहीं करेगा। वह इस अनुभूति को बुद्धिगम्य बनाने की कोशिश करेगा। और यदि जनवादिता का पैमाना उक्त अनुभूति की व्याख्या नहीं कर सकता तो यह उस पैमाने का दोष है, न कि उस अनुभूति के वाहक पाठकों का। सच यह है कि बड़े लेखक किसी संकीर्ण अर्थ में जनवादी नहीं होते, अज्ञानी जनता से सहानुभूति रखते हुए भी वे मुख्यतः उसके लिये नहीं लिखते—वे गाँवों के साधारण स्कूल-शिक्षकों का काम करने नहीं आते। महान् लेखक अपने युग के समुन्नत जीवन-बोध एवं चेतना को आगे बढ़ाने का उपकरण होते हैं—बड़े-से-बड़ा व्यक्ति उनसे कुछ सीख सकता है। टॉलस्टाय ऐसे ही लेखक हैं। उनके उपन्यासों को पढ़कर 'मार्क्स', 'रसेल' 'गांधी' जैसे विचारक तथा महापुरुष भी मानवीय जीवन के सम्बन्ध में नई अन्तर्दृष्टि पा सकते हैं।

: ७ :

श्री नलिन विलोचन शर्मा के कतिपय निष्कर्षों से हम असहमत होने को बाध्य हैं। मौलिक कहलाने के लिए सिर्फ नयी बात कहना काफी नहीं है। बात ऐसी भी होनी चाहिए जो जीवन या अनुभूति के किसी क्षेत्र पर नया प्रकाश डाल सके। असाधारणीकृत व्यक्तिगत वैचित्र्य, दूर की कौड़ी, ध्यान भले ही आकृष्ट करे, विचारवानों को श्लाघ्य नहीं प्रतीत होती। हम नहीं मानते कि हिन्दी के आलोचक की सबसे बड़ी उपलब्धि रसालंकार की दृष्टि से किसी योरपीय साहित्य का इतिहास लिख लेना होगी। समाज-शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक आलोचना के इस युग में स्वयं हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी उक्त दृष्टिकोण से नहीं लिखा जा सकता—हमें 'मिश्रबन्धु विनोद' के युग में वापस नहीं जाना है। न हमें इस बात में शुक्ल जी का विशेष महत्त्व दीखता है कि उन्होंने एक खास कवि—ई० ई० कमिंग्ज़ (क्युमिंग्ज़ ?) का उल्लेख किया है। यदि शुक्ल जी ऐसे दो-चार नाम न लेते तो भी उनका महत्व ठीक उतना ही रहता। कोई भी व्यक्ति विश्व के समस्त श्रेष्ठ साहित्यकारों को नहीं पढ़ सकता, फिर कमिंग्ज़ तो एक साधारण कवि है। (शिप्ले की 'डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर' में कमिंग्ज़ का उल्लेख नहीं है।)

शर्मा जी ने प्रस्तुत लेखक को लक्ष्य कर लिखा है—'उन्हें नञ्—तत्पुरुष का भी इल्म नहीं है और अस्फालन करते हैं रस और व्यंजना पर।' यह कुछ ऐसा ही वक्तव्य हुआ जैसे श्रीमती जी कहें—'जीरे और अजवाइन तक का भेद नहीं जानते और लेक्चर देते हैं फिलासफी पर।' भेद यही है कि श्रीमती यह बात मुस्करा कर कहेंगी जब कि शर्मा जी के वक्तव्य के पीछे विचित्र अहंकार का पुट है। मेरा अनुमान है कि डॉ० रिचर्ड्स जैसे असंस्कृतज्ञ को भी रस-ध्वनिवाद पर विचार करने का अधिकार है, ठीक वैसे ही जैसे शुक्ल जी और सुधांशु जी को, इटालियन भाषा तथा उसका व्याकरण न जानते हुये भी, क्रोचे के मंतव्यों को आँकने का अधिकार है।

वास्तविक विद्वान् अपने ज्ञान का ढिंढोरा नहीं पीटते। अल्प-परिचित लेखकों, ग्रंथों और विषयों का नामोल्लेख कोई महत्त्व की बात नहीं है। मैं विश्वविद्यालयों के कुछ शिक्षकों को जानता हूँ जो नवीनतम पुस्तकों के लेखकों, प्रकाशकों के नाम याद करके तथा पत्रिकाओं में उनकी समीक्षायें पढ़कर साथियों से पूछते फिरते हैं—आपने फलाँ लेखक की 'लेटेस्ट' पुस्तक देखी है ?

हिन्दी के उदीयमान लेखकों से हमारा अनुरोध है कि वे इस प्रकार के

छिछले तरीकों से महत्वशाली बनने का प्रयत्न न करें और 'लेटेस्ट' की जानकारी का स्वप्न न देखें । आप दूसरे द्वारा उसी सत्य का न्यूनाधिक स्वीकार करा सकते हैं जिसका आपने साक्षात्कार किया है ; ऐसे ही सत्य को आप बुद्धिगम्य एवं शक्तिपूर्ण ढंग से भी प्रकट कर सकते हैं। जिस दिन हिन्दी का एक भी कृती आलोचक 'प्रसाद' अथवा 'निराला' के सार्वभौम महत्व का सचमुच साक्षात्कार कर लेगा—जैसे शुक्ल जी ने जायसी के महत्व का किया था—उस दिन वे लेखक निश्चय ही विश्व के श्रेष्ठतम कलाकारों में गिने जाने लगेंगे, लेकिन उससे पहले नहीं। केवल वैसा वक्तव्य दे देने से निराला, वाल्मीकि और कालिदास के समकक्ष नहीं हो जाते और न 'घेरे के बाहर' श्रेष्ठ उपन्यास ही बन जाता है।

यदि हिन्दी समीक्षा अपनी कमियों का सतर्क निरीक्षण करती चले—जैसा कि वह कर रही है—तो कोई कारण नहीं कि उसका भविष्य उज्ज्वल न हो। इधर 'आलोचना' के प्रकाशन से अनेक नये समीक्षक-विचारक प्रकाश में आये हैं और आ रहे हैं । आलोचना विशेषांक (अक्तूबर १९५३) के निबन्धों का सामान्य धरातल किसी भी भारतीय भाषा के लिये गर्व की वस्तु हो सकता है। संक्षेप में आज के समीक्षक के सामने दो कार्य हैं—अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता की चेतना को अक्षुण्ण रखते हुये साहित्य में प्रकाशित युगीन अनुभूति का विश्लेषण करना। जहाँ ये दोनों कार्य विकसित संवेदना तथा दृष्टि चाहते हैं, वहाँ दूसरा सांस्कृतिक सम्पन्नता की भी अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि आज बहुत कुछ समीक्षा-कार्य स्वयं क्रान्तदर्शी लेखकों को करना पड़ रहा है। अंग्रेजी के इलियट, पाउण्ड, हर्बर्ट, रीड आदि कवि ही नहीं, समीक्षक भी हैं और फ्रेञ्च, प्राग्वे, जींद तथा जर्मन टॉमस मान केवल उपन्यासकार ही नहीं हैं। यही बात हमारे दिनकर, अज्ञेय, धर्मवीर, भारती, विजयदेव नारायण साही आदि पर न्यूनाधिक लागू है। हमारे दोनों ही कोटि के समीक्षकों का धरातल अभी यूरोपीय समीक्षकों से निम्नतर है, अवश्य ; पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना तेजी से उच्चतर भूमिकाओं की ओर अग्रसर हो रही है।

: १५ :

हिन्दी साहित्य की वर्तमान स्थिति : एक निवेदन

पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे इस निबंध को, जो कि न्यूनाधिक सम्बद्ध टिप्पणियों का संग्रह है, विशेष ध्यान से पढ़ें, और यदि उन्हें उसकी कुछ बातें पसन्द आयें, तो उनके अनुरूप बरतने का भरसक प्रयत्न करें।

विदेशी साहित्य एवं समीक्षा की तुलना में हमारा साहित्य एवं आलोचना कितने पिछड़े हुये हैं, इसका यह अनुमान कराने या करने का कोई सहज उपाय नहीं है। एक ही उपाय है—कि हिन्दी के बहुत से पाठक तथा लेखक उच्च कोटि के देशी-विदेशी साहित्य से सुपरिचित बन जायँ। आप पूछ सकते हैं—क्या सूर, तुलसी आदि ऊँची कोटि के कलाकार नहीं हैं, और क्या हिन्दी के काफी लेखक तथा पाठक उनसे परिचित नहीं हैं?

उक्त प्रश्न के उत्तर में कुछ हद तक हाँ कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त कलाकार बड़े हैं, किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि दूसरे बड़े साहित्यकारों की तुलनात्मक पृष्ठभूमि के बिना हमारे इन कवियों का महत्व ठीक से हृदयङ्गम किया जा सकता है। अधिकांश पाठकों में कुछ ऐसी धारणायें होती हैं कि चूँकि सूर, तुलसी महाकवि हैं, इसलिये उन्होंने जीवन के जिन पक्षों पर जिस तरह से लिखा है, ठीक वैसे ही दूसरे श्रेष्ठ लेखकों को भी करना चाहिये, और इन कवियों ने जिन जीवन-प्रवृत्तियों एवं जीवन-दर्शन का महत्व दिखलाया है, उन्हीं का महत्व-स्थापन दूसरे साहित्य-कारों को भी करना चाहिये। संक्षेप में हिन्दी का औसत पाठक जीवन तथा जीवन-दृष्टियों की उस विविधता से परिचित नहीं होता जो कि विभिन्न देशों तथा कालों की रचनाओं में प्रतिफलित होती है। हिन्दी के पिच्चानबे फीसदी (शायद उससे भी अधिक) लेखक और पाठक उस संस्कृत-साहित्य से भी परिचित नहीं होते, जिसमें भारतीय साहित्य की उदात्त परम्परा निहित है। संस्कृत के काव्यों तथा नाटकों में जीवन की समग्रता का आकलन हुआ है; उनमें हमें विविध नर-नारियों के चरित्र मिलते हैं, जो कि स्वयं जीवन की विविधता का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। हिन्दी-साहित्य के अधिकांश श्रेष्ठ चरित्र दैवी या अवतारी पुरुष हैं, जैसे राम, लक्ष्मण, भरत एवं कृष्ण; प्राचीन हिन्दी-साहित्य में लौकिक नर वीरों का स्थान नगण्य-सा है। दूसरी

बात यह है कि हिन्दी-साहित्य में प्रायः या तो संस्कृत-साहित्य के धार्मिक एवं परलोक परायण तत्वों को लिया गया है, या फिर उसके ह्रास-काल की विकृत आलंकारिता को। ऐहिक जीवन से सम्बद्ध संस्कृत-साहित्य की उदात्त परम्पराओं की हिन्दी में बहुत-कुछ अवहेलना हुई है। अवश्य ही इसका कारण हिन्दी-साहित्य के निर्माण का पराधीनतामूलक वातावरण था।

संस्कृत-साहित्य के विकृत एवं कमजोर अनुकरण का एक अच्छा निदर्शन हिन्दी का नीति-साहित्य है। संस्कृत के चाणक्य, शुक्राचार्य आदि नीतिकारों ने छन्दोबद्ध रूप में जिन नीति-नियमों का प्रकाशन किया है वे स्वतंत्र भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के सहज अङ्ग थे ; हिन्दी कवियों द्वारा उन्हीं नीति-वाक्यों की आवृत्ति होना एक कृत्रिम प्रयास था, क्योंकि वे सिद्धान्त और नियम पराधीन हिन्दू जाति के जीवन का अङ्ग नहीं रह गये थे। आज भी हिन्दी के साहित्यकार सभ्य तथा संस्कृत जीवन की समग्र जरूरतों के आलोक में साहित्य-रचना कर रहे हों, ऐसा दिखाई नहीं देता। संस्कृत-साहित्य तथा अन्य सभ्य देशों के साहित्यों से सुपरिचित होकर ही हिन्दी के लेखक तथा पाठक अपने साहित्य की कमियों को ठीक से समझ सकेंगे।

विशुद्ध हिन्दी-साहित्य की जानकारी रखने वाले लेखक और पाठक एक दूसरे कारण से भी अविकसित रह जाते हैं। योरोप के साहित्यकार तथा समीक्षक ही नहीं, दूसरी कोटियों के लेखक-विचारक भी बड़े जागरूक तथा सृजनशील हैं। आज हमारे देश में प्रायः किसी भी क्षेत्र में स्वतंत्र चिन्तन नहीं होता। हमारे देश में भी राजनीति बहुत है, पर हमारे राजनीतिक विचार प्रायः योरप और अमरीका अथवा रूस से आते हैं, सो भी अधकचरे रूप में। आधुनिक काल में हमारे देश का न कोई अपना अर्थ शास्त्र है, न राजनीति-विज्ञान, दर्शन अथवा नर-विज्ञान या समाज-शास्त्र। हमारे विश्वविद्यालयों में इन सभी विषयों में योरपीय सिद्धान्त तथा ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं। (राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रेमी इस विषय पर ठण्डे दिल से विचार करें कि कब तक अपनी भाषा में वे इन विषयों के मौलिक ग्रन्थ प्रस्तुत कर सकेंगे।) देखने की बात यह है कि विभिन्न क्षेत्रों के विचारकों का साहित्य तथा साहित्य-समीक्षा पर भी प्रभाव पड़ता है। योरपीय साहित्य से अनभिज्ञ हमारे लेखक तथा पाठक इन प्रभावों से सर्वथा वंचित रहते हैं; फलतः वे यह कभी नहीं जान सकते कि युगोचित साहित्य किस प्रकार का होना चाहिये। यही कारण है कि हिन्दी के अधिकांश लेखक नितान्त अपरिपक्व या अधकचरे रह जाते हैं ; और नैसर्गिक प्रतिभा के बल पर दस-पांच

बरस उछल-कूद करके विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध में हम पाठकों का ध्यान एक कष्टप्रद स्थिति की ओर आकृष्ट करेंगे। विदेशों के अधिकांश अच्छे लेखकों की तुलना में हिन्दी का औसत श्रेष्ठ लेखक कम अच्छा तो लिखता ही है, कम अवस्था तक लिखता है, और कुछ वर्षों तक ही अच्छा लिख पाता है। अवस्था की वृद्धि के साथ लेखक की जीवनानुभूति में विस्तार होना चाहिए, उसकी जीवन-दृष्टि में परिपक्वता एवं अभिव्यक्ति में प्रौढ़ता आती जानी चाहिए। हिन्दी-लेखकों के साथ प्रायः विपरीत बात होती है; यौवन के ढलते-ढलते वे उच्चकोटि का सृजन करने में असमर्थ बन जाते हैं। वर्तमान हिन्दी में शायद कोई महत्वपूर्ण लेखक नहीं है, जिसने पन्द्रह-बीस वर्ष भी संगतरूप में श्रेष्ठ साहित्य लिखा हो, और जीवन के उत्तरार्ध में विशिष्ट साहित्य रचना की हो। प्रेमचन्द ने काफी बाद में साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त की, और फिर एक मात्र श्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' लिखकर दिवंगत हो गये। अज्ञेय ने कम ही उपन्यास लिखे हैं, और जान पड़ता है कि 'सुनीता' तथा 'त्यागपत्र' लिखने के बाद जैनेन्द्र जी को मानवीय जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने को बाकी नहीं रह गया। यही बात छायावाद युग के कवियों के बारे में भी कही जा सकती है। उस काल के प्रसिद्धि-प्राप्त समीक्षक भी शिथिल होते दिखाई पड़ रहे हैं।

इस स्थिति का क्या कारण है? उत्तर है—हिन्दी का औसत लेखक अपने उन वर्षों में जब तक कि व्यक्तित्व का निर्माण होता है, विश्व-साहित्य से अवगतियों, विचारों, एवं भावनाओं का उतना संचय नहीं करता जितना अनवरत विकास-शील सृजन के लिये अपेक्षित है।

× × ×

कुछ पाठकों को शायद महसूस हो कि हम उनके समक्ष साहित्य के सृजन, आस्वादन एवं समीक्षा के बहुत ऊँचे पैमाने रख रहे हैं कि साधारण पाठक तथा लेखक के लिए इतनी लम्बी-चौड़ी तैयारी करना बहुत कड़ी तपस्या एवं साधना होगी। उत्तर में निवेदन है कि एक उन्नतिशील राष्ट्र के समझदार एवं महत्वाकांक्षी नागरिक अपने-अपने क्षेत्रों में विशेष क्रियाशील या कर्मठ होते हैं। बौद्धिक क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने लिखा है कि बड़ा लेखक या विचारक वही बन सकता है, जो विशिष्ट सृजन या चिन्तन के कार्य को जीवन का एक मात्र तथा चरम ध्येय बना ले। जो लेखक थोड़ी निन्दा से हतोत्साह अथवा थोड़ी प्रशंसा से साधन-विरत एवं निश्चिन्त हो जाता है, वह कभी अपनी प्रतिभा का उच्चतम उपयोग

नहीं कर पाता । हमारी यह भी आस्था है कि बिना काफी ईमानदार एवं उदात्त चरित्र-सम्पन्न हुए कोई भी विचारक या साहित्यकार विशेष ऊँची उपलब्धि नहीं कर सकता ।

अध्ययन उतनी कठिन चीज नहीं है, जितना कि लोग समझते हैं । पढ़ना नियमित होना चाहिए; पढ़ने से पढ़ने की रुचि बढ़ती है । किसी विषय की गूढ़ गुत्थियों से हम जितना ही परिचित होते जाते हैं, उतना ही उस विषय में हमारा अनुराग बढ़ता जाता है । अच्छा साहित्य पढ़ने से श्रेष्ठ साहित्य की भूख बढ़ती है; दार्शनिक समस्याओं के बढ़िया विवेचन से दर्शन में रुचि उत्पन्न होती है । धीरे-धीरे यदि किसी में जिज्ञासा जग जाय कि जीवन क्या है, और उसका ध्येय क्या है, और जीवन के ध्येय को कैसे जाना और पाया जा सकता है—तो उसे बहुत से शास्त्रीय विजय रुचिकर लगने लगेंगे ।

आपकी जिस विषय में रुचि हो, उस विषय के अच्छे ग्रन्थों का पता लगायें, और उन्हें पढ़ने का प्रयत्न करें । अच्छे लेखकों के ग्रन्थ जल्दी नहीं पढ़े जाते, और उनकी सामग्री जल्दी पचाई भी नहीं जा सकती । श्रेष्ठ ग्रन्थों को बार-बार पढ़ना चाहिये, और उनमें रस लेने की कोशिश करनी चाहिये । श्रेष्ठ लेखकों अथवा ग्रन्थों के निकट सम्पर्क से ही हमारी सम्वेदना तथा चिन्तन का धरातल ऊँचा हो सकता है । उस निकट सम्पर्क के लिए यह आवश्यक है है कि आप उन्हें बार-बार पढ़ें, जिसका एक मतलब यह भी है कि वे लेखक और ग्रन्थ आपके अपने पुस्तकालय में उपलब्ध हों ।

हिन्दी में बहुत कम लेखक और पाठक हैं जो अपना एक सुन्दर पुस्तकालय बनाने का प्रयत्न करते हैं । किन्तु मेरा अनुभव है कि जिस व्यक्ति को अच्छी पुस्तकें संग्रह करने तथा पढ़ने का व्यसन नहीं है, वह कभी श्रेष्ठ लेखक, समझदार पाठक एवं उत्तम समीक्षक नहीं बन सकता । राजशेखर आदि पुराने आलंकारिकों ने यह बताने की कोशिश की है कि एक अच्छे कवि या साहित्यकार को किन-किन विषयों का जानकार होना चाहिए। प्राचीन आचार्य कवियों के शिक्षण की समस्या का महत्त्व भली भाँति जानते थे । कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि महान् साहित्यकारों की कृतियों से यह स्पष्ट है कि वे अपने समय के दर्शन, राजनीति-विज्ञान आदि से सुपरिचित थे । आज विज्ञानों की संख्या बढ़ गई है । आज के लेखक के लिए दर्शन और राजनीति से ही नहीं, समाज शास्त्र, नर-विज्ञान, भौतिक-शास्त्र, जीव-विज्ञान, आदि से भी न्यूनाधिक परिचित होना आवश्यक है ।

बहुत से विषयों की बहुत-सी पुस्तकें पढ़ने से उतना लाभ नहीं होता,

जितना कि कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की चुनी हुई पुस्तकें पढ़ने से होता है। आप योरप का समूचा साहित्य पढ़ने की व्यर्थ कोशिश न करें; कुछ महत्त्वपूर्ण लेखकों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ गम्भीरता से पढ़ने का प्रयत्न करें। बहुत बड़े लेखकों की कृतियों में उनके विशिष्ट क्षेत्र से सम्बन्धित अनुभव एवं समस्याओं के प्रायः सभी पहलुओं का विवरण या उल्लेख मिल जाता है। एक-दो महान् दार्शनिकों के प्रतिनिधि ग्रन्थों को पढ़कर आप दर्शन की समस्याओं का जितना सूक्ष्म तथा गहरा परिचय पा सकते है, वैसा दर्शन के पाँच-सात इतिहास पढ़कर नहीं पा सकते। शुरू में यह जरूरी है कि आप किसी विषय का एक पूरा विवरण या इतिहास पढ़ें, किन्तु उसके बाद अध्ययन का अच्छा रास्ता यही है कि आप उस विषय की कतिपय 'क्लासिक्स' का गम्भीर अध्ययन कर डालें। साहित्य का अध्ययन भी इसी प्रकार होना चाहिये। योरप के सैंकड़ों लेखकों के हज़ारों ग्रन्थ पढ़ने की अपेक्षा यदि आप वहाँ के चार-छः नये-पुराने लेखकों के काव्य तथा नाट्य-ग्रन्थ, और उतने ही लेखकों के आठ-दस उपन्यास ठीक से पढ़ डालें, तो आपकी रस-सम्वेदना का ज्यादा उचित निर्माण या परिष्कार होगा, और आपका भाव-जगत् अधिक व्यवस्थित रूप में समृद्ध बन सकेगा।

साहित्य-प्रेमियों को एक नियम बनाना चाहियें—यह कि वे लम्बी आलोचनायें उसी लेखक या ग्रन्थ के सम्बन्ध में पढ़ेंगे जिसका उन्होंने अध्ययन किया है। परीक्षाओं की आवश्यकता के बाहर विद्यार्थियों को भी यथाशक्ति इस नियम का पालन करना चाहिये। इस सम्बन्ध में भी यह स्मरण रहे कि ज्यादा लाभ बड़े लेखकों की विश्लेषणात्मक समीक्षायें पढ़ने से होता है।

चार-छः महान् लेखकों की कृतियों तथा उनकी समीक्षाओं को पढ़ लेने के बाद ही आप इस योग्य बन सकेंगे कि साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर ठीक से सोच सकें, और उन समस्याओं के आलोक में, विभिन्न साहित्यिक वाद का महत्त्व आँक सकें। साहित्यिक अभिरुचि के विकास के लिए सबसे घातक चीज़ यह है कि आप पहले कतिपय साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं को पकड़ बैठें और बाद में अच्छे-बुरे साहित्य का अध्ययन करें।

: १६ :

हिन्दी उपन्यास की कुछ समस्याएँ

हिन्दी उपन्यास अथवा हिन्दी-साहित्य की जिस समस्या का हम इस समय उल्लेख करना चाहते हैं, वह एक प्रकार से वर्तमान भारतीय संस्कृति मात्र की समस्या है। संक्षेप में समस्या यह है—विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय धरातल को किस प्रकार प्राप्त करें ? अपनी इस बात को हम अधिक स्पष्ट करें। हमारे विश्वविद्यालयों में इस समय अर्थशास्त्र, नर-विज्ञान, समाजशास्त्र, भौतिक-विज्ञान आदि प्रायः सभी विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती है। किन्तु इसमें से किसी भी विषय में हमारे देश के विद्वान् उच्चकोटि का चिन्तन एवं लेखन प्रायः नहीं कर पाते, जैसा विदेशी विद्वान् करते हैं। इसका मतलब सिर्फ यही नहीं कि हमारे यहाँ मौलिक विचारकों की कमी या अभाव है, बल्कि यह भी कि हमारे पाण्डित्य का औसत धरातल योरपीय धरातल से नीचा है। सिर्फ एक उदाहरण से मैं अपने कथन की पुष्टि करूँगा। श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् हमारे देश के प्रमुख दार्शनिक समझे जाते हैं। किन्तु उन्होंने अपने किसी भी मन्तव्य के प्रतिपादन में वैसे तर्कपूर्ण एवं सम्बद्ध चिन्तन के सम्भवतः पचास पृष्ठ भी नहीं लिखे हैं, जैसे कि 'माइण्ड' जैसे पत्रों तथा 'प्रोसीडिङ्ग्ज ऑफ् दी एरिस्टॉटीलियन सोसायटी' जैसे संकलनों में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। यह बात पाठकों को किसी प्रकार आतंकित करने के लिये नहीं कही जा रही है, इसका उद्देश्य उन्हें वस्तु-स्थिति से परिचित कराना मात्र है। फ्रेंच दार्शनिक बर्गसाँ ने अपनी अपरोक्षानुभूति की अन्वेषण-पद्धति को स्पष्ट करने के लिये एक स्वतन्त्र पुस्तिका लिखी है। राधाकृष्णन् भी अपरोक्षानुभूति में विश्वास करते हैं, पर उन्होंने कहीं उसका गम्भीर निरूपण करने का प्रयत्न नहीं किया। एक स्वतन्त्र दर्शन-पद्धति के निर्माण की तो चर्चा ही व्यर्थ है।

यह समझना भूल होगी कि इस परिस्थिति के लिये श्रीराधाकृष्णन् और उनकी प्रतिभा ही जिम्मेदार है; हमारे देश में अभी ऐसा वातावरण ही नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में बहुत ऊँची कोटि का चिन्तन कर सके। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में स्थिति कुछ अच्छी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ भी वातावरण संतोषप्रद है। पहली बात यह है कि साहित्य एवं साहित्यकार को शेष सांस्कृतिक वातावरण से अलग नहीं किया जा सकता।

जिस देश में दूसरे क्षेत्रों में उच्चकोटि का सांस्कृतिक कार्य नहीं हो रहा है वहाँ अनिवार्य रूप में साहित्य का स्तर भी बहुत ऊँचा नहीं हो पाता। दूसरे क्षेत्रों में समृद्ध विचारों एवं उनकी वाहक व्यञ्जनाओं की कमी या अभाव होने के कारण साहित्यकार युगाभिव्यक्ति के साधनों से न्यूनाधिक वंचित रह जाता है। हमारे देशी साहित्यों विशेषतः हिन्दी-साहित्य के साथ एक दूसरी परिस्थिति भी रही है। इन साहित्यों का धरातल देश के श्रेष्ठतम विद्वानों के धरातल से से प्रायः निम्नतर रहा है। कारण यह है कि देश के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् प्रायः देशी भाषाओं के प्रति उदासीन रहते रहे हैं। उदाहरण के लिये जहाँ पिछले साठ-सत्तर वर्षों से हमारे विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी साहित्य की उच्चशिक्षा दी जाती रही है, और संस्कृत साहित्य पर भी उच्चकोटि का कार्य होता रहा है, वहाँ हिन्दी में श्रेष्ठ समीक्षा का आरम्भ शुक्ल जी से पहले न हो सका, और आज भी उसकी स्थिति सराहनीय नहीं है। अंग्रेजी के प्रौढ़ विद्वानों की तुलना में हमारे लेखकों तथा समीक्षकों की रस-सम्वेदना अभी भी कम विकसित या कच्ची ही कही जायगी। हिन्दी के थोड़े ही लेखक इस नियम का अपवाद हैं।

आगे हम कथा-साहित्य या उपन्यास की ही विशेष चर्चा करेंगे। अवश्य ही पिछले तीन-चार दशाब्दों में हमारे कथा-साहित्य ने तेजी से उन्नति की है। किन्तु हमारी समीक्षा इस उन्नति का ठीक-ठीक विश्लेषण कर पाई है, इसमें संदेह है। साथ ही इस समीक्षा को अभी यह भी ठीक-ठीक अवगत नहीं है कि हमारे कथा साहित्य में क्या कमियाँ हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दी लेखकों तथा समीक्षकों की प्रतिभा प्रायः उपचेतन धरातल पर व्याप्त होती रही है। प्रायः हिन्दी-समीक्षक अपने साहित्य के मूल्यांकन में ऐसे मानों का प्रयोग करते रहे हैं, जो सार्वभौम नहीं हैं, और जिनका समुन्नत देशों में साग्रह प्रयोग नहीं किया जाता। विशेष लक्षित करने की बात यह है कि हिन्दी समीक्षक की रुचि एवं समीक्षा-बुद्धि का विकास प्रायः वर्तमान हिन्दी-साहित्य के विकास का समानान्तर रहा है। काव्य-क्षेत्र में 'प्रियप्रवास', 'साकेत', और कामायनी', क्रमशः हमारी साहित्यिक लब्धि एवं समीक्षात्मक अभिरुचि दोनों का प्रतिमान रहे हैं। कथा-क्षेत्र में, 'गबन', 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'गोदान', 'सुनीता' और 'शेखर' उसी प्रकार हमारी उपलब्धि एवं रुचि के धरातल को प्रतिफलित करते रहे हैं। हिन्दी का समीक्षक हिन्दी से बाहर के साहित्यों तक कम पहुँचता रहा है, भले ही वह योरपीय समीक्षा-ग्रन्थों को उलट-पुलट रहा हो; प्रायः हिन्दी लेखक ही अपनी शक्ति के अनुसार बाहरी साहित्य से प्रेरणा लेता या पाता रहा है। किन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अब तक हिन्दी के लेखक और

समीक्षक दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकसित धरातल से सुपरिचित नहीं हो सके हैं।

स्थूल रूप में साहित्य के दो तत्त्व होते हैं, एक अनुभूति और दूसरी कल्पना। एक तीसरा तत्त्व भी है जिसे हम लेखक की दृष्टि या 'पर्स्पेक्टिव' कह सकते हैं। श्रेष्ठ कथाकारों की कल्पना यथार्थानुकारी होती है, वह वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में इस कल्पना की सृष्टि पूर्णतया विश्वसनीय एवं प्रेषणीय होती है। लेखक की दृष्टि उसके द्वारा किये गये जीवन-स्थितियों के चयन एवं उनकी व्याख्या को प्रभावित करती है।

उच्चकोटि का कथाकार जीवन के उन्हीं पहलुओं का चित्रण करता है जिनसे वह सुपरिचित है। आधुनिक श्रेष्ठ उपन्यास में कथावस्तु थोड़ी ही रहती है; अपेक्षाकृत छोटी कथावस्तु की परिधि में श्रेष्ठ उपन्यासकार जीवन के अनगिनत तत्त्वों को देख लेता है। प्राचीन कथाओं में कथावस्तु जितनी विपुल होती थी, जीवन की स्थितियों का विश्लेषण उतना ही कम मार्मिक। 'अलिफ़ लैला' की एक छोटी-सी कहानी में आप दर्जनों प्रसंगों का उड़ता विवरण पढ़ जाते हैं। इसके विपरीत फ्लावेर को 'मदाम बावेरी' की छोटी-सी कथा कहने में कई-सौ पृष्ठ भरने पड़े हैं। मार्मिक विश्लेषणों की बहुलता के कारण ही टॉलस्टॉय की 'एनाकेरिनिना' तथा 'वार एण्ड पीस' बृहत् ग्रन्थ बन गये हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास मार्मिक नहीं बन सके हैं। उनके उपन्यासों में प्रायः कथावस्तु बहुत विस्तृत हो जाती है और मार्मिक विश्लेषण के स्थल उसी अनुपात में विरल हो जाते हैं। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द का देश के बहुत से वर्गों तथा विभिन्न कोटि के मनुष्यों से परिचय है, किन्तु सच यह है कि वे बहुत कम पात्रों का मार्मिक एवं गम्भीर चित्रण कर सके हैं। उनके उपन्यासों में 'गोदान' ही आधुनिक उपन्यास के विकसित धरातल पर पहुँचता दिखाई देता है, यद्यपि उक्त उपन्यास में भी जीवन के सतही विवरणों का अभाव नहीं है। प्रस्तुत लेखक को हाल ही में बंकिम चन्द्र का 'कपाल कुण्डला' पुनः पढ़ने का अवसर मिला। उसे यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि कुछ ही वर्ष पहले तक, सम्भवतः आज भी, ऐसे उपन्यासों की गणना ऊँचे साहित्य में होती रही या होती है। निःसन्देह श्री वृन्दावनलाल वर्मा बंकिम चन्द्र से श्रेष्ठतर लेखक हैं; कम-से-कम यथार्थानुकारिता में। यदि वर्मा जी की 'दृष्टि' कुछ अधिक परिष्कृत एवं विवेक-सम्पन्न होती तो वे और भी अच्छे उपन्यासकार बन सकते।

यथार्थानुकारिता की अनेक कोटियाँ और धरातल हैं। किन्हीं भी दो पात्रों

की बातचीत और उनके सम्बन्ध का चित्रण मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है। सामाजिक वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों और उनकी विभिन्न प्रेरणाओं का उद्‌घाटन दूसरी, और शायद उच्चतर, यथार्थ-दृष्टि की माँग करता है। इससे भी अधिक दृष्टि एवं प्रतिभा की जरूरत है जीवन के यथार्थ में से स्थितियों एवं मनोवृत्तियों का महत्वपूर्ण चयन करने के लिए। इतना काफी नहीं है कि लेखक अपने समीप के जीवन को और केवल अपने युग के जीवन को जाने। श्रेष्ठ लेखक की दृष्टि जीवन के उन प्रसंगों को पकड़ेगी जो मानव-इतिहास की अपेक्षाकृत स्थायी प्रेरणाओं को प्रतिफलित करते हैं। 'एना-कोरीनिना' के प्रथम परिच्छेद में जिस समस्या का संकेत है—अनेक बच्चों की मा का यौवन ढल जाने पर उसके अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ या सजग पति का अन्यत्र तृप्ति खोजना—वह, विशिष्ट वर्गों के दाम्पत्य-जीवन में, एक स्थायी समस्या है। इसी तरह 'वार एण्ड पीस' में पीयरे या पीये के सहसा समृद्ध हो जाने पर उसके समाज की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का उसके प्रति आकृष्ट दीखने लगना अभिजात सामाजिक जीवन के एक गम्भीर तथ्य को प्रकट करता है।

इन दृष्टियों से हिन्दी के, और कुछ हद तक भारत के, उपन्यास-लेखकों की यथार्थ-चेतना अल्प-विकसित हो रही है। इसका एक कारण है, हमारे लेखकों की उक्त चेतना का शिक्षण कर सकने वाली संस्थाओं या परिस्थितियों का अभाव। एक महान् लेखक की चेतना को शिक्षित करने के लिए समूचे राष्ट्र को साधना करनी पड़ती है; उस शिक्षण में देश के विभिन्न विज्ञान-विशारदों का उतना ही हाथ रहता है जितना कि इतिहासकारों का। हमारे देश में इन 'एजेन्सीज़' का आज भी अभाव है। आज तक न तो भारतवर्ष का कोई बढ़िया वैज्ञानिक इतिहास ही प्रस्तुत किया जा सका है—ऐसा इतिहास जो हमारी विभिन्न जय-पराजयों का तुलना-मूलक एवं विश्वसनीय विवरण देता हो—और न हमारे किसी इतिहासकार ने सभ्यताओं के उत्थान-पतन जैसे प्रश्नों से उलझने का प्रयत्न ही किया है। जो देश स्वतन्त्र नहीं हैं, जिनके नेता और इतिहासकार दोनों यथार्थ को देखने-समझने के अभ्यस्त हैं, वहाँ के लेखकों से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वे जीवन को प्रौढ़, इतिहासाधारित यथार्थ-दृष्टि से देखेंगे और चित्रित करेंगे।

हम भारतीय सदियों से स्वप्नदर्शी रहे हैं, 'विशफुल थिंकिंग' या मन-मोदकों के अभ्यस्त। हमारी लम्बी गुलामी का शायद यह सबसे महत्वपूर्ण कारण है। यदि हमें अपने उपन्यासों में इस मनोवृत्ति का प्रतिफल मिले, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जैनेन्द्र जी के 'व्यतीत' में अमीर नायिका ग़रीब

नायक के पीछे अपनी समृद्धि लिए घूमती फिरती है; एक दूसरी महिला भी उसकी रुपये से मदद करने को सदैव तैयार रहती है। शरत् की राजलक्ष्मी नायक श्रीकान्त की आर्थिक समस्या को अक्सर हल कर देती है, यद्यपि राजलक्ष्मी के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वह गायिका होने के कारण जहाँ धन पा सकती है वहाँ किसी सहृदय भले-मानुष का प्रेम आसानी से नहीं पा सकती। किन्तु इस प्रकार की गायिका या वेश्या अपवाद-रूप है, वह समाज का व्यापक ऐतिहासिक सत्य नहीं है। यही बात रमणलाल वसन्तलाल देसाई के 'पूर्णिमा' उपन्यास के सम्बन्ध में कही जा सकती है। श्री इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' में एक फैशनेबिल परिवार की लड़कियों का कुरूप या विकलांग कवि-नायक की ओर आकृष्ट होना उसी प्रकार सामाजिक सत्य नहीं है। इन दृष्टियों से 'पथ की खोज' का नायक बड़ा भाग्यहीन है। उसकी प्रेमपात्री साधना अमीर होते हुए भी उसकी कभी आर्थिक सहायता नहीं करती। यों 'पथ की खोज' के अनेक प्रसंगों में अप्रौढ़ता अर्थात् अयथार्थ-दृष्टि का पर्याप्त पुट है।

हमारे उपन्यासों में बहुत-सी अपरिपक्वता आदर्शवाद के नाम पर भी आती रही है। 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया के प्रेम का चित्रण कुछ ऐसी ही चीज है—सन्देह होने लगता है कि प्रेमचन्द को नर-नारी के तीखे प्रेम का अनुभव हुआ था या नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि श्रेष्ठ लेखक आदर्शवादी नहीं हो सकते, या वे नैतिकता के प्रति उदासीन होते हैं। श्रेष्ठ कलाकार नैतिकता के नियमों को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं कि वे यथार्थ जीवन के यथार्थ नियम जान पड़ें। उच्चतम कोटि का लेखक पाठक की बोध-वृत्ति का प्रवंचन करके नहीं, अपितु उसका पूर्ण उन्मेष करके उसका नैतिक शिक्षण करता है। यदि नैतिकता असली जीवन का नियम है—व्यक्ति और समाज की जीवन-समृद्धि का उपकरण है—तो उसकी महत्ता सिद्ध करने के लिये जीवन के यथार्थ को झुठलाना आवश्यक नहीं होना चाहिये। इस दृष्टि से टॉलस्टॉय की एना रंगभूमि की सोफिया से ज्यादा प्रभविष्णु पात्री है। साधारण दृष्टि से व्यभिचारिणी होते हुए भी एना हमारी वृत्तियों का जितना परिष्कार कर सकती है उतना सोफिया नहीं। इसी प्रकार 'गोदान' के आदर्श पात्र, मेहता और मालती, हमारे मनोभावों का स्थायी उन्नयन करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं।

खेद है कि हिन्दी-समीक्षा अभी तक इन सूक्ष्म प्रभेदों को देखने की अभ्यस्त नहीं बन सकती है। कोई लेखक गहरे अर्थ में नैतिक परिष्कार करने

की क्षमता रखता है, अथवा एक छिछले अर्थ में 'शिक्षाप्रद' है ; उसकी दृष्टि गम्भीर मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सचाइयों को पकड़ती है, या समाज के सतही यथार्थ को छूती है, इसका विवेक हिन्दी का औसत समीक्षक नहीं करता। ऐसे वातावरण में श्रेष्ठ कलाकार का पनपना कठिन हो जाता है। विद्यापति की राधा की भाँति उसे यह आशंका या शिकायत बनी रहती है कि कहीं उसकी कला का माणिक्य घटिया पारखी के हाथों में न पड़ जाय—अथवा पड़ गया है।

हिन्दी का औसत समीक्षक आलोच्य कृति को उदात्त विश्व-साहित्य के सम्पर्क में विकसित संवेदना की कसौटी पर कम जाँचता है—वह प्रायः अध-सोचे या अधपचाये वादों का प्रयोग करता है। विश्व की सभ्यताओं के उत्थान-पतन की व्याख्या करने के लिये ट्वायनबी को आठ-दस बड़े खण्डों की योजना बनानी पड़ी है ; हिन्दी का औसत लेखक और समीक्षक बी० ए० की डिग्री पाते-पाते, अथवा उससे भी पहले, प्रगति, प्रतिक्रियावादिता आदि के सम्पूर्ण रहस्य से परिचित हो जाता है। किसी बड़े विचारक का अनुयायी बन जाना, अथवा अपने को किसी फैशनेबिल वाद का हामी घोषित कर देना, उस आजीवन साधना का स्थानापन्न नहीं है जो लेखक की संवेदना का उच्चतम विकास और उसकी प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन करती है—इसे हिन्दी के जोशीले युवक-लेखक बहुत कम समझते या समझना चाहते हैं। किन्तु इसका परिणाम क्या है ? हिन्दी के सैकड़ों लेखकों तथा आलोचकों ने प्रगतिवाद को अपनाया, पर उनमें से कितने शुक्ल जी की चिन्तनशीलता को पा सके, और कितने 'कामायनी' जैसा काव्य भी हिन्दी को दे सके ? दस-पंद्रह बरस उछल-कूद करके आज प्रगतिवाद अपनी निष्फलता के बोझ से श्रान्त नजर आ रहा है। आशंका यह है कि कहीं तथाकथित प्रयोगवाद का भी वही हश्र न हो—क्योंकि प्रथम 'तार सप्तक' के प्रकाशन के बाद वह निश्चित उन्नति करता दिखाई नहीं दे रहा है। 'नई कविता' की कुछ रचनायें देखकर ऐसा महसूस हुआ कि प्रयोगवादी कविता लिखने के लिये कोई गम्भीर साधना—देश-विदेश की संस्कृति का परिचय, मानवता की गहरी ममता, इतिहास की व्याख्या या निर्माण की साध—आवश्यक नहीं है ; कुछ अटपटी व्यंजनाओं और उपमाओं को प्रस्तुत करने की क्षमता उसके लिये पर्याप्त सम्बल है। किन्तु थोड़े सम्बल से मिल सकने वाली सफलता के महत्व में संदेह किया जा सकता है—किया जाना चाहिए।

अवश्य ही वाद का आश्रय लेने से थोड़े दिनों के लिये विज्ञापन की

सुविधा मिल जाती है—किन्तु, व्यक्तिगत साधना को शिथिल करने का कारण बनकर, यह सुविधा बड़ी मंहगी पड़ती है। यदि इन तथ्यों को समझते हुये कोई प्रतिभाशाली लेखक किसी वाद से सम्पर्क जोड़ लेता है, तो उतना खतरा नहीं है—बशर्ते कि लेखक 'वाद' की झोंक में अपनी सम्वेदना को कृत्रिम तथा संकुचित न बना ले। हर हालत में उस लेखक को, जो वस्तुतः कलात्मक सृष्टि की ऊँचाइयों को नापना चाहता है, यह याद रखना चाहिये कि उसके प्रयत्नों का चरम ध्येय किसी एकांगी वाद के संकीर्ण वर्ग में नहीं अपितु उस सार्वभौम एवं महान् बिरादरी में शरीक होना है जिसके सदस्य विश्व के समस्त देशों के सर्वमान्य साहित्यकार हैं।

: १७ :

दो उपन्यास

१—नदी के द्वीप

'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा उपन्यास है। यहाँ हम केवल इस उपन्यास का मूल्य आँकने का प्रयत्न करेंगे, स्वयं उपन्यासकार का नहीं; और इसका मतलब है कि हम 'शेखर—एक जीवनी' की एकदम ही उपेक्षा करेंगे। इसका एक कारण यह भी है कि प्रस्तुत लेखक ने इस उपन्यास को बहुत पहले पढ़ा था, और इस समय उसकी स्मृति बड़ी क्षीण है; उस स्मृति को ताज़ा करने का अवकाश भी नहीं है।

'नदी के द्वीप' का मूल्यांकन एक कठिन काम है, क्योंकि उसके गुण-दोष दोनों ही सहज पकड़ में आने योग्य नहीं हैं। यों सम्भवतः कमियों की अपेक्षा उसके गुण ज्यादा स्पष्ट हैं। 'नदी के द्वीप' एक असाधारण कृति है; जिसका हमारे साहित्यिक विकास की इस भूमिका में एक विशेष महत्व है। उसकी विशेषताओं का ग्रहण एवं विश्लेषण दोनों ही सूक्ष्म संवेदना एवं तीखी अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखते हैं। उक्त उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि वह अपने पाठकों को वैसी संवेदना एवं दृष्टि से सम्पन्न बनाने की क्षमता रखता है। मुमकिन है बहुत से पाठक 'नदी के द्वीप' को रुचि-पूर्वक न पढ़ सकें, किन्तु वे जो उसे उस भाँति पढ़ने का धैर्य एवं योग्यता रखते हैं, उसकी इस क्षमता से प्रभावित एवं लाभान्वित हुये बिना नहीं रह सकते।

'नदी के द्वीप' एक बड़े ही सजग एवं शिक्षित कलाकार की कृति है। 'शिक्षित' से मेरा मतलब है—डिसिप्लिन्ड, ऐसा लेखक जो लेखन के लिये अपेक्षित अनुशासन में पूरा-पूरा गुजर चुका है। यह अनुशासन लेखक को इस योग्य बनाता है कि वह अपनी संवेदना एवं अनुभूति को पूर्णतया परिष्कृत, व्यवस्थित और सही अभिव्यक्ति दे सके। इन दृष्टियों से, शायद, हिन्दी का कोई दूसरा उपन्यासकार अज्ञेय की समता नहीं कर सकता। इसका यह मतलब नहीं कि उक्त लेखक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार है। सम्भवतः हमारे किसी भी उपन्यासकार को यह पदवी नहीं दी जा सकती। हिन्दी ने अब तक कई अच्छे उपन्यासकार उत्पन्न किये हैं, पर उनमें कोई भी उतना

सर्व-क्षमता-सम्पन्न नहीं है कि अपने को निश्चितरूप में दूसरों के ऊपर प्रतिष्ठित कर सके। कुछ में एक कोटि की विशेषतायें हैं, तो कुछ में दूसरी कोटि की। प्रेमचन्द का समाज के संस्थाबद्ध (Institutonal) जीवन से जितना घना परिचय है उतना असाधारण संवेदना वाले व्यक्तियों की चेतना से नहीं; जैनेन्द्र और अज्ञेय में असाधारण चेतनाओं के विश्लेषण की क्षमता है, पर उन्हें अपेक्षित मूर्तरूप देने, मूर्त घटनाओं से सम्बद्ध करने की शक्ति कम है। फलतः यह कहना कठिन हो जाता है कि उक्त लेखकों में कौन सर्वश्रेष्ठ है। दार्शनिक पृच्छाशीलता की दृष्टि से इन तीनों में प्रेमचन्द्र का स्थान सबसे नीचे और जैनेन्द्र का सबसे ऊपर है; संवेदना के सूक्ष्म अंकन में, और कहीं-कहीं, भावनात्मक प्रवेग में यह विशेषता 'शेखर' में अधिक प्रतिफलित हो सकी है। अज्ञेय उक्त दोनों लेखकों से बाजी ले जाते हैं। प्रेमचन्द की सब से बड़ी विशेषतायें हैं ---मूर्त ऋजुता और प्रवाह। अपने एक उपन्यास 'दिव्य' में यशपाल जीवन-दृष्टि एवं जीवन-स्थितियों के सामंजस्य का पूर्ण निर्वाह कर सके हैं; इस दृष्टि से उनकी यह उपन्यास प्रौढ़ बन सका है।

सहसा विश्वास नहीं होता कि हमारी भाषा में, उसके विकास की इस अवस्था में, 'नदी के द्वीप' जैसी रचना प्रस्तुत की जा सकती है। 'नदी के द्वीप' एक ऐसी भाषा की कृति मालूम नहीं होता जिसका छोटा-सा इतिहास है और जो अभी निर्माण की अवस्था में है। अज्ञेय के उपन्यास में हमारी भाषा एक अनोखी सादगी, स्वाभाविकता एवं स्वच्छता, कान्ति और परिपूर्णता लिए हुए दिखाई पड़ती है। उसका प्रत्येक शब्द मानो हाल ही में टकसाल से ढल कर नई चमक तथा व्यंजकता लेकर, आगत हुआ है। वे शब्द जो सुपरिचित हैं, और वे जो अल्प-परिचित हैं, सभी वहाँ निराली सार्थकता से दीप्त और मुखर हैं। उपन्यास को पढ़ते हुए हम विभिन्न पदों की इस आभामयी अर्थवत्ता से अनवरत विस्मित एवं पुलकित होते चलते हैं, और हम आश्चर्य करते हैं कि क्या ये उसी परिचित भाषा के परिचित शब्द हैं, जिन्हें हम सैंकड़ों पुस्तकों में प्रयुक्त होते देखते हैं। संस्कृत तथा हिन्दी के कोशकार अभी तक पर्यायवाची शब्दों से परिचित रहे हैं; समानार्थक दीखने वाले शब्दों के अर्थों में 'शेड्स' के कितने अन्तर हो सकते हैं—कितने अन्तरों को देखा और प्रेषित किया जा सकता है—यह अनुभूति 'नदी के द्वीप' के परिश्रमी पाठकों को विशेष उपलब्ध होगी। उक्त उपन्यासकार द्वारा प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक वाक्य और पंक्ति इतनी शालीन सावधानी से लिखी गई है कि आलोचक के लिए यह निर्णय

करना कठिन हो जाता है कि वह उक्त विशेषता के निदर्शन के लिए, कहाँ से कौन-सा उद्धरण ले।

'यह पत्र समाप्त करके जब वह उठा, तब भोर का आकारहीन फीकापन क्षितिज पर छा गया था। डाकघर का गजर खड़कता रहा कि नहीं, चन्द्रमाधव ने नहीं सुना।' (पृ० ६८) और 'दो-तीन मिनट के बाद ही उसकी साँस नियमित चलने लगी—उस नियम से जो हमारी संकल्पना का नहीं, उससे निरपेक्ष प्रकृति का अनुशासित है, और उसके औंधे शरीर की सब रेखाओं में एक बेबस शिथिलता आ गई।' (पृ० ६९)

अज्ञेय के शब्द-प्रयोग की विशेषता वस्तुतः उनके व्यक्तित्व की—अथवा अनुभूति की, क्योंकि व्यक्तित्व अनुभूतियों का पुंज-मात्र है—विशेषता है। वर्ण्य-जगत, परिवेश अथवा पात्र की प्रत्येक विशेषता को यह कलाकार भिन्न, विश्लिष्ट रूप में रखता है; उसकी प्रत्येक अनुभूति, प्रत्येक प्रेक्षण व्यक्तित्व-सम्पन्न है। फलतः उसके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता प्रतीत होता है। शब्दों की पैनी सीमायें और तीखी भिन्नतायें लेखक की देखने, अनुभव करने की उन विशेषताओं को प्रतिफलित करती हैं। परिपार्श्व की प्रत्येक विशेषता को अज्ञेय मानो एक स्वतन्त्र दृष्टिक्षेप से देखते और आँकते हैं। संक्षेप में, अज्ञेय की दृष्टि प्रखर रूप में विश्लेषणशील है।

इसके साथ ही यह दृष्टि संस्कृत एवं शालीन भी है। उक्त उपन्यास के प्रमुख पात्र—भुवन, रेखा, गौरा—अपने स्रष्टा की इन विशेषताओं से सम्पन्न हैं। उनकी रहन-सहन, बातचीत, एवं मान्यताओं सब पर एक शोभन, शिष्ट, शालीनता की छाप है। वे उस संस्कृत, सुघड़ जीवन के प्रतीक हैं जिनमें शिक्षा एवं सौजन्य का सहज सामंजस्य रहता है; यह जीवन ही, अपनी समग्रता में लेखक का आदर्श है। चन्द्रमाधव के स्वभाव की जिह्मताओं एवं स्थूल वृत्तियों के वैषम्य द्वारा उक्त आदर्श को परिस्फुट करने का प्रयत्न किया गया है। चन्द्रमाधव, भुवन आदि की सूक्ष्मतम भिन्नताओं को पकड़ने एवं प्रकाशित करने की चेष्टा की गई है।

'नदी के द्वीप' की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, उसके प्रकृति-चित्र। इस चित्र-विधान में अज्ञेय की शब्द-शिल्पिता चरम सीमा पर पहुँची दिखाई देती है। शायद ही हिन्दी के किसी दूसरे लेखक ने सौन्दर्य के इतने बारीक, विश्लिष्ट-गुम्फित चित्र अंकित किये हों। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :—

"कुदेसिया बाग में उन दिनों फूल लगभग नहीं होते—कोई फूल ही उन दिनों में नहीं होता, सिवा वैजयन्ती के, जो भड़क रंगीन चूनर ओढ़े बीबी

शटल्लो बनी धूप में खड़ी रहती है। लेकिन खण्डहर पर चढ़ी हुई 'बेगम बैरिया' लता की छाँह सुहावनी थी—फूल इससे भी कई तेज़ रंगों के भी होते हैं, पर इसकी लम्बी पतली बाहों में, हवा में झूमते गुच्छा-गुच्छा फूलों में एक अल्हड़पन होता है जो वैजयन्ती के भू-निष्ठ आत्म-संतोष से सर्वथा भिन्न होता है...... और फिर इस विशेष लता के फूल भी तेज़ रंग के नहीं थे, एक धूमिल गुलाबी रंग ही उनमें था जो पत्तियों के गहरे हरे रंग की उदासी कुछ कम कर देता था, बस। (पृ० १३४)।

अब हम 'नदी के द्वीप' की कुछ कमियों का संकेत करेंगे। एक शब्द में कहें तो यह उपन्यास एक अशक्त कृति है। नीचे हम इस अशक्ति के उपादानों या कारणों की खोज करेंगे।

'नदी के द्वीप' में किसी स्पष्ट, प्रखर आदर्श अथवा जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति देने की कोशिश नहीं की गई है। कहीं-कहीं अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि के संकेत हैं, पर वे विरल तथा निर्बल हैं। कहीं-कहीं नितान्त साधारण, भले शिक्षितवर्ग के विचार अनावश्यक आडम्बर से व्यक्त किये गये हैं—जैसे, जापान के युद्ध में आने की खबर से भुवन का विशेष विचलित होना (पृ० ३७०-७१)। भुवन द्वारा गौरा को लिखे हुये इस पत्र में किसी ऐसी समस्या से उलझने का प्रयत्न नहीं है जिसका विचार शीला के लिये भी महत्वपूर्ण हो। रेखा और गौरा के सारे आदर के बावजूद हमें यह महसूस नहीं होता कि भुवन के विचारों एवं संकल्पों का स्तर विशेष ऊँचा है, वह एक खास शिक्षित-शिष्ट वर्ग के सदस्यों के सामान्य चिन्ता-धरातल से अधिक ऊँचे उठते नहीं दीखता। कहीं भी भुवन के विचारों अथवा संकल्पों में ऐसी शक्ति नहीं है जो विचारवान् पाठक को बरबस बहा ले जाय। भुवन का कॉस्मिक-रश्मियों सम्बन्धी अन्वेषण पाठकों को कुछ दूर की चीज़ जान पड़ता है। उसके महत्व को वे साक्षात् अनुभव नहीं करते, और उसके दूसरे विचार किसी भी अर्थ में असाधारण अथवा क्रान्तिकारी नहीं है। इस दृष्टि से रेखा तथा गौरा के चरित्र भी सशक्त नहीं बन सके हैं।

यहाँ एक बात कह दी जाय—'नदी के द्वीप' का पाठक अपने तथा उपन्यास के पात्रों के बीच गहरे तादात्म्य का अनुभव कर पाता है। लेखक ने पात्रों के सतही, मात्र 'मैनर्स' से सम्बन्धित व्यापारों तथा भावनाओं का जितना सतर्क चित्रण किया है उतना उनकी मूल वासनाओं तथा उससे सम्बद्ध क्रियाओं का नहीं। यही कारण है कि हमें वे पात्र कुछ दूर-दूर से जान पड़ते हैं, और हम उन्हें अपनी आन्तरिक रस-वृत्ति द्वारा पूरा-पूरा नहीं पकड़ पाते। ऊपर हमने जो प्रकृति-चित्र उद्धृत किया है उसमें भी यही बात है—उसके नये-निराले

नाम हमारी रसात्मक वृत्ति के उन्मेष में बाधक होते हैं। साहित्य किसी भी प्रकार की विशिष्ट Specialised जानकारी के प्रदर्शन का माध्यम नहीं है; उसमें उतना ही बोध आना चाहिये जिसका कलाकार या पात्रों की भाव-चेतना से गहरा सम्बन्ध हो।

'नदी के द्वीप' का कोई भी पात्र सशक्त रूप में हमारे सामने खड़ा नहीं होता, चन्द्रमाधव भी नहीं। किसी भी पात्र से हमारा बहुत गाढ़ा परिचय नहीं हो पाता। हम किसी पात्र का प्रगाढ़ परिचय दो तरह से पाते हैं—उसकी विभिन्न प्रेरणाओं (motives) को सम्बद्ध-रूप में ग्रहण करके, और उसे विभिन्न परिस्थितियों में उन प्रेरणाओं के अनुसार प्रतिक्रिया करते देखकर। हमने ऊपर कहा कि 'नदी के द्वीप' में किसी पात्र की जीवन-दृष्टि का सबल संकेत नहीं है—शरत् बाबू के 'शेष प्रश्न' में नायिका कमल के विशिष्ट दृष्टिकोण का दर्जनों संदर्भों में शक्तिपूर्ण प्रतिपादन एवं प्रकाशन कराया गया है। वैसा-कुछ 'नदी के द्वीप' में नहीं मिलता, उसकी कथा का उद्देश्य भी किसी खास दृष्टि या सिद्धान्त का संकेत नहीं जान पड़ता। लेकिन ज्यादा शिकायत की बात दूसरी है—वहाँ विभिन्न पात्रों की जीवन प्रेरणायें मूर्त एवं शक्तिपूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी हैं। वस्तुतः, जीवन के लम्बे-चौड़े संदर्भ के अभाव में, ऐसा कठिन हो जाता है। रेखा क्या चाहती है, कैसा साथी चाहती है, किस दिशा में अपने जीवन को ले जाना चाहती है, इसका सफल निर्देश कहीं नहीं मिलता। रेखा और भुवन के व्यक्तित्वों में कितने स्थलों पर कितना मेल है, यह हम नहीं समझ पाते, कारण यह है कि हमें दोनों के अनेक प्रेरणा-स्रोतों का परिचय नहीं होता। बाद में, जब वे अलग होते हैं, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि दोनों को कितनी व्यथा हुई या होनी चाहिये। गौरा तथा रेखा के व्यक्तित्वों में कहाँ कौन-सा मौलिक अन्तर है, क्यों भुवन दोनों को प्यार करते हुये भी बाद में गौरा के पास चला आता है—इन प्रश्नों का उपन्यास में कहीं समुचित समाधान नहीं है।

उपन्यास में भुवन और रेखा जगह-जगह दूसरे कवियों के उद्धरण प्रयुक्त करते पाए जाते हैं, जैसे वे स्वयं अपनी प्रेरणाओं से न जीते हुए विभिन्न कवियों के भाव-स्पन्दन में अपने खोखले जीवन को भरने की सामग्री खोज रहे हों। उद्धरणों द्वारा वे जिन मनोदशाओं का भावन करते हैं उनका स्रोत स्वयं उनके सामाजिक सम्बन्धों एवं वैयक्तिक आकाँक्षाओं में होना चाहिए! सामान्य नर-नारियों की भाँति व्यवहार न करके जब वे कविताएँ उद्धृत करने लगते हैं तो पाठकों को धीरज रखना कठिन हो जाता है। स्वयं भुवन ने एक बार

'कुछ शिकायत के स्वर से कहा, "तुम सिर्फ 'कोटेशन' बोल रही हो—अपना कुछ न कहोगी ?" (पृ० २०५)। जिन क्षणों में नर-नारी स्वयं जीवन्त होते हैं और यदि प्रेम के क्षणों में जीवन्त न होंगे तो कब होंगे ?—उस समय वे स्वयं अपने उमड़ते हुए आवेगों को प्रकट करते हैं, पढ़ी या सुनी हुई बातों को नहीं। और उन क्षणों में परम्परागत संस्कार उस जीवन्त भाव-स्पन्दन का अखण्ड अंश बनकर प्रकट होते हैं, पृथक् उद्धरणों के रूप में नहीं।

हमने ऊपर कहा कि 'नदी के द्वीप' में सुन्दर प्रकृति-चित्र हैं। दुर्भाग्यवश ये चित्र भी उपन्यास को अशक्त बनाने का हेतु बन गए हैं। शायद उपन्यास में प्रकृति के वही चित्र स्थान पा सकते हैं जो पात्रों की भावनाओं में रंगे हों, अथवा उन भावनाओं को सफल बनाते या अभिव्यक्त करते हों। 'नदी के द्वीप' के प्रकृति-चित्रों में वैज्ञानिकता अधिक है, भाव-शबलता कम। वे अक्सर रेखा और भुवन के बीच व्यवधान खड़ा कर देते हैं जिससे उनके पारस्परिक सम्बन्ध की रसात्मकता कम हो जाती है। असली जीवन की अपेक्षा उपन्यास में पात्र एक-दूसरे के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। विशेषतः प्रेमी और प्रेमिका एक-दूसरे के साथ होते हुए संभवतः किसी तीसरी ओर ध्यान नहीं ले जा सकते—कम-से-कम साहित्य में ऐसा ही होता है। 'नदी के द्वीप' में इस नियम का विपर्यय है, जो उसके प्रभाव के लिए घातक है।

'नदी के द्वीप' एक शक्तिपूर्ण उपन्यास नहीं है इस तथ्य का एक पहलू यह है कि उसमें गहरा रसोद्रेक कर सकने वाले प्रसंगों की विरलता है। यों उक्त उपन्यास का प्रत्येक अंश किसी-न-किसी प्रकार की अर्थवती चेतना जगाता है, किन्तु ये विश्लिष्ट चेतनाएँ समन्वित होकर बड़ा प्रभाव कम पैदा कर पाती हैं।

इस सामान्य नियम के अपवाद भी हैं। अवश्य ही 'नदी के द्वीप' में कुछ प्रसंग हैं जो रसोद्रेक करने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ होते हैं। उपन्यास का प्रारम्भिक परिच्छेद, जहाँ भुवन गई हुई रेखा को याद कर रहा है, ज्यादा प्रभावशाली होता यदि उसमें बिखरी हुई अनुभूति अधिक पुंजीभूत हो सकती। चन्द्रमाधव से सम्बन्धित दो-एक प्रसंग मार्मिक हैं, जैसे उसकी पत्नी कौशल्या के साथ की घटना। हेमेन्द्र, रेखा के पूर्व पति का प्रसंग भी तीखे रूप में याद रहता है। चन्द्रमाधव का जगह-जगह रेखा तथा गौरा को एक साथ पत्र लिखना तथा दोनों का ही 'कोर्ट' करने का प्रयत्न करना, और फिर दोनों ओर से रूखे उत्तर पाना, हमारी विनोद-वृत्ति को खाद्य देता है। कश्मीर में रेखा और भुवन का पहला मिलन भी एक प्रभविष्णु प्रसंग बन सका है।

'नदी के द्वीप' का सब से शक्तिपूर्ण अंश वहाँ से शुरू होता है जहाँ, श्रीनगर मे रेखा ने अपने कोख के शिशु को नष्ट करके शरीर को संकट में डाल लिया है। उसके बाद प्रायः अन्त तक उपन्यास की कथा विशुद्ध मानवीय धरातल पर चलती है—अनावश्यक उद्धरणों तथा अन्य विवरणों से मुक्त रहकर, यद्यपि वहाँ भी इन तत्त्वों का एकान्त अभाव नहीं है। अन्तराल-खण्ड मे केवल विभिन्न पात्रों के पत्र-ही-पत्र हैं। ये पत्र अज्ञेय के अद्भुत निर्माण-शिल्प के प्रतीक हैं। गौरा के कक्ष मे जलती हुई अँगीठी के सामने बैठे भुवन का आवेग-आवेश उपन्यास का एक सशक्त एवं महत्वपूर्ण स्थल है। ऑपरेशन के बाद पीड़ित, क्लान्त और मृदुल-स्निग्ध रेखा तथा भुवन का मिलन-प्रसंग भी बड़ा करुण तथा मार्मिक है। मृत शिशु की चेतना से आक्रान्त भुवन अँगीठी की आग को देख रहा है, उसका वर्णन भुवन की भावनाओं का मार्मिक प्रतिफलन करता है—

'आग लपकती और गिरती, कभी एक अधजली लकड़ी बीच में से टूटकर गिरती और आग का एक भाग दबकर अँधेरा या नीलाभ हो जाता, फिर फुरफुरा कर एक छोटी-सी शिखा उसमें से उमंग आती और बढ़ जाती। उसी प्रकार भुवन का स्वर कभी मद्धिम पड़ जाता, कभी धीरे-धीरे ऊँचा उठ जाता, कभी उसकी वाणी क्षण भर अटककर फिर कई एक द्रुत चिनगारियाँ फेंक देती ···(पृ० ३८६)।

कुल मिलाकर 'नदी के द्वीप' एक असाधारण उपन्यास है—एक असाधारण लेखक की असाधारणकृति। उस प्रत्येक व्यक्ति को जो हमारी भाषा की सूक्ष्म सम्भावनाओं से परिचित होना चाहता है, और उसे जो अपनी लेखनी अनुशासित करना चाहता है, इस उपन्यास का धैर्यपूर्वक पारायण करना चाहिये।

२—बाण भट्ट की आत्मकथा

'बाणभट्ट की आत्मकथा' श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का एकमात्र उपन्यास है। हिन्दी में कोई दूसरा व्यक्ति इस तरह के उपन्यास या कथा को लिख सकता था, ऐसी कल्पना करना कठिन है। पं० रामचन्द्र शुक्ल शायद संस्कृत साहित्य के उतने सरस-सहृदय पाठक न थे; भारतीय संस्कृति के अन्य अंगों से भी उनका ऐसा गहरा परिचय न था। द्विवेदी जी की प्रधान विशेषता है—कठोर पाण्डित्य के साथ एक अपूर्व सहज सरलता तथा मस्ती का योग। द्विवेदी जी पूरी डिसिप्लिन के साथ पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण ही नहीं करते, वे उन्मुक्त निर्द्वन्द्वता से हँस भी सकते हैं। संभवतः इस समय अनेक

दृष्टियों से वे हिन्दी माध्यम से बोलने वाले दो-एक श्रेष्ठ वक्ताओं में हैं।

तो, द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिख डाली, मानो पाण्डित्य ने अपनी गरिमा से ऊबकर उच्छ्वासित आत्म-विनोद करने का प्रयत्न किया हो। स्वयं बाणभट्ट भी कोरा कलाकार ही नहीं था, कम-से-कम पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रति विमुख न था। उसकी अलिखित आत्मकथा लिखने का कोई दूसरा अधिकारी हो ही नहीं सकता था।

जिन्होंने बाणभट्ट की 'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित' नहीं पढ़े हैं वे ठीक से अनुमान नहीं लगा सकते कि 'कथा' के रूप में द्विवेदी जी ने कितनी महत्व-पूर्ण चीज हिन्दी को दी है। साहित्य के साथ ही द्विवेदी जी यदि 'क्लासिकल', भारतीय संस्कृति के गहरे जानकार न होते तो वे हर्गिज इस 'कथा' का निर्माण न कर पाते।

'कथा' में द्विवेदी जी के मुख्य उद्देश्य दो हो सकते हैं—एक, प्रसिद्ध बाणभट्ट की लेखन-शैली की विडम्बना प्रस्तुत करना, और दूसरे, हिन्दी पाठकों को संस्कृत साहित्य के, विशेषतः बाणभट्ट के, उज्ज्वल सौन्दर्य-बोध की समृद्ध अवगति देना। इन दोनों ही दृष्टियों से द्विवेदी जी पूर्णतया सफल हुये हैं।

किन्तु, द्विवेदी जी का कृतित्व यहीं तक सीमित नहीं है। एक स्वतंत्र कथाकार एवं कलाकार के रूप में भी उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली है। कथा में उन्होंने एक कहानी गढ़ने का प्रयत्न किया है, जिसकी सफलता का सबूत उसकी रोचकता है। मानवीय रोचकता की दृष्टि से हमें 'कथा' का पूर्वार्द्ध अधिक प्रिय लगा ; उत्तरार्द्ध की रचना करते समय संभवतः लेखक कुछ ऊब महसूस करने लगा था। 'कथा' अपूर्ण रह जाती है, अपनी परिणति की ओर नहीं बढ़ पाती, इसका एक कारण लेखक का अनावश्यक नैतिक संयम अथवा साहित्यिक साहसहीनता भी है। लेखक मानो अपनी वाणी पर एक विशेष प्रकार का प्रतिबन्ध या प्रतिरोध लगाकर लिख रहा हो। लेखक ने स्वयं इसे स्वीकार किया है—'इस 'कथा' में सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि एक स्त्री-जनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्ति में बाधा दे रही है।' इस बात में 'आत्मकथा' पूर्णतया बाणभट्ट के अनुरूप नहीं है।

वैसे 'कथा' में वे सब विशेषतायें हैं जो संस्कृत के, और विशेषतः बाण-भट्ट के गद्य-काव्य में पाई जाती हैं। जैसा कि द्विवेदी जी ने उपसंहार में लिखा है—'कादम्बरी' की कला में आँखों का, अर्थात् प्रेक्षणमूलक चेतना का प्राधान्य है। 'कादम्बरी' का लेखक चित्र खड़े करने की कला में अद्वितीय

है, यद्यपि ये चित्र सर्वत्र रसोद्रेक नहीं करते। उदाहरण के लिए बाणभट्ट ने महाश्वेता की शुभ्रता का चित्र खड़ा करने के लिए कई दर्जन उपमायें खर्च कर डाली हैं। इस दृष्टि से मितभाषी कालिदास और मुखर बाणभट्ट में काफी अन्तर है। और इस दृष्टि से 'अज्ञेय' के निर्लिप्त चित्र-विधान तथा बाणभट्ट के वैसे वर्णनों में कुछ साम्य है—यद्यपि बाणभट्ट में उतने बारीक विश्लेषण की प्रवृत्ति नहीं है। 'कादम्बरी' के वर्णनों की भाँति 'आत्मकथा' के वर्णन भी कथा-प्रवाह में व्याघात उपस्थित करते हैं। मतलब यह कि 'आत्मकथा' की अधिकांश कमियाँ बाणभट्ट की कमियों का सफल प्रतिफलन मात्र हैं।

बाणभट्ट की सब से बड़ी शक्ति और अशक्ति है—रागात्मक जरूरतों से निरपेक्ष, विदग्ध, वैचित्र्यपूर्ण वर्णन के प्रवाह में बह जाना। 'कथा' की कलात्मक जरूरतों को भुलाकर बाण मानो अपनी ही वाणी के प्रबल आवर्त्त में फँसकर रह जाता है। उसका शब्दों एवं उनके संगीत का अनुराग वैसा ही उत्कट है। जैसा अंग्रेजी कवि स्विनबर्न का। और कवि की वर्णना का विषय कोई भी वस्तु या स्थान हो सकता है—एक अश्व या सरोवर उतना ही जितने कि नायक-नायिका अथवा अन्यपात्र। द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की इन विशेषताओं का पूर्ण निर्वाह किया है। एक नमूना देखिये—

"इसी समय उस राजकन्या ने वीणा बजाना शुरू किया। मैंने''''इस कमनीयता की मूर्ति की ओर देखा '। अत्यन्त धवल प्रभा-पुंज से उसका शरीर एक प्रकार ढँका हुआ-सा ही जान पड़ता था, मानो वह स्फटिक गृह में आबद्ध हो, या दुग्ध-सलिल में निमग्न हो, या विमल चीनांशुक से समावृत हो, या दर्पण में प्रतिबिम्बित हो, या शरद् कालीन मेघ-पुंज में अन्तरित चन्द्रकला हो।'''निश्चय ही यह धर्म के हृदय से निकली हुई है। मानो विधाता ने शंख से खोदकर, मुक्ता से खींचकर, मृणाल से सँवार कर, चन्द्र-किरणों के कूचक से प्रक्षालित कर, सुधा-चूर्ण से धोकर, रजत-रस से पोंछ, कुटज कुन्द और सिन्धुवार पुष्पों की धवल कान्ति से सजाकर ही इसका निर्माण किया था। अहा, यह कैसी अपूर्व पवित्रता है! यहाँ क्या मुनियों की ध्यान-सम्पत्ति ही पुंजीभूत होकर वर्त्तमान है, या रावण के स्पर्श-भय से भागी हुई कैलास पर्वत की शोभा ही स्त्री-विग्रह धारण करके विराज रही है, या बलराम की दीप्ति ही उनकी मत्तावस्था में उन्हें छोड़कर भाग आई है, या मन्दाकिनी की धारा ने ही यह पवित्र रूप ग्रहण किया है।" (पृ० ३९-४१)।

भट्टिनी का पहली बार परिचय पाने पर बाणभट्ट उनके पवित्र व्यक्तित्व का इस प्रकार वर्णन करता है—

"उचित स्थान पर विधाता का पक्षपात हुआ है। हिमालय के सिवा गंगा की धारा को कौन जन्म दे सकता है? महासमुद्र के सिवा कौस्तुभमणि को कौन उत्पन्न कर सकता है? धरित्री के सिवा और कौन है जो सीता को जन्म दे सके? मैं बड़भागी हूं, जो इस महिमाशालिनी राजबाला की सेवा का अवसर पा सका। आहा! किस पाप-अभिसन्धि ने इस कुसुम कलिका को तोड़ लिया था? किस दुर्वह भोग-लिप्सा ने इस पवित्र शरीर को कलुषित करने का संकल्प किया था? किस दुर्निवार पाप-भावना ने ज्योत्स्ना को मलिन करना चाहा था? मेरे हृदय की भक्ति और भी बढ़ गई।" (पृ० ५८)।

'आत्मकथा' की एक स्पृहणीय विशेषता है, उसकी व्यापक विनोद-भावना। बाणभट्ट जगह-जगह स्वयं अपने को लक्ष्य करके हँसता है। शुरू में ही वह बतलाता है, किस प्रकार उसे उसके गांव के लोगों ने 'बण्ड' (पूँछ-कटे बैल) की उपाधि दी थी जिसे उसने संस्कृत शब्द 'बाण' द्वारा संस्कार करके अपने नाम की इज्जत बढ़ा ली। चौथे उच्छ्वास में एक पुजारी का बड़ा विनोदपूर्ण वर्णन है। वर्णन को विशेष विनोदपूर्ण बनाने के लिए पुजारी बाबा को बहुत ही विरूप चित्रित किया गया है—यह कादम्बरीकार के युग की कला की स्थूलता का सबूत है। यों 'आत्मकथा' का हास्य स्वयं द्विवेदी जी की विशेषता है। छठे उच्छ्वास में एक बाबा बाणभट्ट से, उसके ये कहने पर कि मैं अमंगल से डरता हूँ, उससे इस प्रकार बातें करते हैं—

'ब्राह्मण है न?'

'हाँ, आर्य!'

'तेरी जाति ही डरपोक है। क्यों रे, महावराह पर तेरा विश्वास नहीं है?'

- 'है आर्य!'

'झूठा! तेरी जाति ही झूठी है!'

पाठक इस संवाद की विनोदात्मकता की अधिक दाद दे सकेंगे यदि वे स्मरण रखें कि बाणभट्ट ही नहीं, 'आत्मकथा' का लेखक भी स्वयं ब्राह्मण है!

'बाणभट्ट की आत्मकथा' मन में एक प्रश्न उठता है—क्यों द्विवेदी जी ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का और अधिक सदुपयोग नहीं किया? क्यों वे अपना अधिकांश समय रूखे रिसर्च-कार्य को ही देते रहे हैं? कहीं इसका कारण उस नैतिक साहस की कमी तो नहीं है जो 'आत्मकथा' के शृंगार के दृप्त बनने में बाधक हुई है?